महात्मा नारायण स्वामी

गृहस्थ-जीवन-रहस्य

लेखक—
स्व० श्री महात्मा नारायण स्वामी जी

राजपाल एण्ड सन्ज़
नई सड़क दिल्ली

मूल्य

दो रुपया आठ आना

भूमिका

चिर-काल से अनेक गृहस्थ नर-नारियों की इच्छा थी कि मैं गृहस्थ के सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ लिखूं, परन्तु अवकाश न मिलने के कारण उनकी इच्छा की पूर्त्ति नहीं की जा सकी। अब ऋषि दयानन्द के निर्वाण-अर्द्ध-शताब्दी के समीप आने से, उपर्युक्त इच्छापूर्त्ति के लिये तकाज़ों का वेग इतना बढ़ा कि मुझे विवश होकर उनके सामने सिर झुकाना पड़ा। गृहस्थ के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द कृत संस्कार-विधि का गृहस्थ प्रकरण बड़ा सुन्दर और उपयोगी है। मुझे इस सम्बन्ध में कोई पुस्तक लिखने में जो संकोच था उसका एक कारण यह भी था कि ऐसे महात्मा के इतने सुन्दर ग्रन्थ के होते हुए क्यों मुझे इस विषय का विश्लेषण करना चाहिये। अन्त में जब इस ग्रन्थ के लिखने का निश्चय किया गया तो दृढ़ संकल्प कर लिया गया था कि उपर्युक्त ग्रन्थ की सभी विशेषताओं को लेकर, उनमें देश-कालानुसार जिस वृद्धि की ज़रूरत हो, वह कर दी जावे—तदनुसार ही किया गया है। ग्रन्थ को जितना सुन्दर बनाने की ज़रूरत थी, अवकाश की कमी के कारण, वह पूरी नहीं की जा सकी, सम्भव है अवकाश मिलने पर यह पूर्त्ति फिर कभी पूरी की जा सके। इस समय शीघ्रता में ग्रन्थ जितना अच्छा बनाया जा सकता था, उसके बनाने का भरसक यत्न किया गया है। आशा है गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को इससे कुछ-न-कुछ लाभ ही होगा।

रामगढ़, नैनीताल
जन्माष्टमी सं० १९९० वि०

नारायण स्वामी

उपहार

विषय-सूची

दूसरा सर्ग

तीसरा अध्याय

पहला सर्ग

दूसरा सर्ग

तीसरा सर्ग

चौथा सर्ग

पाँचवाँ सर्ग

चौथा अध्याय

पहला सर्ग

दूसरा सर्ग

तीसरा सर्ग

चौथा सर्ग

पांचवां सर्ग

—— ❀ ——

उपोद्‌घात

-:०:-

संसार में विवाह की भिन्न-भिन्न जितनी प्रथाएँ प्रचलित हैं, उनमें वैदिक पद्धति, सर्व-श्रेष्ठ मानी जाती है। वैदिक-पद्धति की विशेषता यह है कि विवाह इस पद्धति में अन्य पद्धतियों की तरह कोई माहिदा (Contract) नहीं है; किन्तु वह एक पवित्र आत्मिक सम्बन्ध है, जो पति और पत्नी के मध्य इसलिए होता है कि वे दोनों मिलकर संसार को, यथा-सम्भव श्रेष्ठ बनाने का यत्न करें। यदि गृहस्थ एक उत्तम सन्तान पैदा कर देता है, तो उससे वह ज़रूर संसार को, किसी-न-किसी अंश में ऊँचा करने का प्रयत्न करता है। वैदिक-पद्धति की इस विशेषता को अन्य-मतावलम्बी मुक्त-कंठ से स्वीकार करते हैं। सन १९११ ईसवी में, जब स्वर्गीय भूपेन्द्रनाथ ने, वायसराय की कौंसिल में, एक बिल, १८७२ ईसवी के स्पेशल-मैरिज-ऐक्ट के संशोधनार्थ पेश किया था, तो तत्कालीन लॉ मेम्बर (Law Member) स्वर्गीय सैयद अली इमाम ने अपनी वक्तृता में कहा था:—

"I find that Law of marriage among the Hindus is for more based on religious obligations, rites and Ceramonies than it is amongst the Mohamedans. Amongest the Hindus, it is a sacrament of ordinary character that even death the sanctity of the nuptial bond and the sacredness of the knot remains."

सैयद् अली इमाम ने स्पष्ट शब्दों में, इस बात को स्वीकार किया है कि विवाह की वैदिक-पद्धति, मुसलमानी पद्धति की अपेक्षा, अधिक धार्मिक सिद्धान्तों पर निर्भर है, और उसका, पवित्रता-पूर्ण सम्बन्ध, मृत्यु के बाद भी बना रहता है। इत्यादि।

एक दूसरे विद्वान् डाक्टर "मेंगनस हिर्शफेल्ड" (Dr. Mangnus Hirsch fald) ने एक जगह लिखा है:— "Marriage between blood relatives, specially of both are brought up in the same invironment, and are simeler in type, is apt to accentuate both the weakness and strength inherent in the family. Perhaps for this reason such marriages among the Hindus have no religious sanction behind them."†

डाक्टर हिर्शफेल्ड ने, वैदिक-पद्धति के अनुसार

† The Daily Leader, Allahabad dated 3/8/1931.

दूर-देश में विवाह किए जाने की उपयोगिता स्वीकार करते हुए निकट-सम्बन्ध के विवाह को निर्बलता पैदा करनेवाला ठहराया है।

वैदिक पद्धति जब अटूट विवाह का समर्थन करती है, तो यह आवश्यक था कि वेद और स्मृति-कार, गृहस्थों के लिए, इस प्रकार की शिक्षा देते, जिससे पति और पत्नी में चिरस्थायी प्रेम का संचार हो और दोनों एक-दूसरे के दुःख सुख को अपना दुःख-सुख समझें। प्रसन्नता की बात है कि वेद और स्मृति-कारों ने इसी प्रकार की शिक्षा दी है, जिससे उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्त्ति होती है। महाभारत में एक जगह लिखा है कि जब धृतराष्ट्र और गांधारी का विवाह निश्चय हो गया, तो गांधारी का भाई—शकुनि—उसे, गांधार-देश से हस्तनापुर, विवाह के लिए लाया—विवाह हो गया। जब गांधारी को मालूम हुआ कि इसका पति चक्षु-हीन है, तब उसने हमेशा के लिए अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली, यह कहते हुए कि मैं किसी प्रकार पति के दोष को देखकर उसकी निन्दा न कर सकूँ :—

ततः सा पटमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा।
बबन्ध नेत्रे स्वराजन् पतिव्रत-परायणा।
नाभ्यसूयां पतिमहमित्येवं कृत-निश्चया॥

(महाभारत आदि० ११०)

सीता, दमयन्ती, सावित्री आदि देवियों के उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि यदि वेदादि सत्-शास्त्रों की शिक्षा उपर्युक्त प्रकार की न होती, तो सम्भव न था कि ये देवियाँ इस प्रकार की बन जातीं। इस ग्रंथ में उन्हीं वेदादि की शिक्षा का यथा-सम्भव खोलकर ज़िक्र किया गया है, जिससे प्रत्येक स्त्री-पुरुष उन्हें पढ़कर उनसे लाभ उठा सकें। और भी अनेक उपयोगी बातों का ग्रंथ में समावेश हुआ है, जिससे प्रायः सभी गृहस्थ लाभ उठा सकते हैं।

—नारायणस्वामी

प्रथम अध्याय

——(*:*)——

पहला सर्ग

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता मनुष्य-जीवन, अभ्युदय (लोकोन्नति) और निःश्रेयस (परलोकोन्नति) दोनों का साधन बन सके इस लिये वह चार भागों (आश्रमों) में विभक्त किया गया है:—(१) ब्रह्मचर्य्य-आश्रम। इस आश्रम में प्रविष्ट करने वाले का उद्देश्य विद्याध्ययन और शरीर तथा आत्मा का बलवान् बनाना होता है। (२) "गृहस्थाश्रम" इस आश्रम का उद्देश्य, मुख्य रीति से, देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण से मुक्त होना है।

(३) "वानप्रस्थाश्रम"—श्रद्धा, तप और ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थ में आये समस्त विकारों को दूर करके अपने को शुद्ध ब्रह्मचारी बना लेना। (४) "सन्यास आश्रम"—संसारकी सेवा करते हुए अपने को आत्म-रत बनाना। अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक आश्रम की उपयोगिता है। परन्तु जहाँ तक आश्रमों तथा आश्रमस्थ नर-नारियों की रक्षा का सम्बन्ध है, गृहस्थाश्रम सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है। कारण स्पष्ट है। बाक़ी तीनों आश्रमस्थ नर-नारियों का पालन-पोषण गृहस्थाश्रमियों ही के आधीन हैं। सब का पालक होने ही से उस (गृहस्थाश्रम) की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता स्वीकार की जाया करती है। मनु ने अपने शास्त्र में इस सचाई को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। वे लिखते हैं:—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृति विधानतः। गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि। (मनु० ३। ७८)

अर्थात्—वेद और स्मृति के प्रमाण से, सब आश्रमों में गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है क्योंकि यही आश्रम (बाक़ी) तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है।

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्जेष्ठाश्रमो गृही। (मनु० ३ । ७८)

अर्थात्—जिस कारण तीनों आश्रमों वालों को दान और अन्न से गृहस्थ ही प्रतिदिन धारण करता है, इस से गृहस्थाश्रम बड़ा है।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः। (मनु० ३ । ७७)

जैसे संपूर्ण जीव वायु के आश्रय से जीते हैं, वैसे गृहस्थ के आश्रय से सब आश्रम चलते हैं।

गृहस्थाश्रम के निर्माता

उपनिषद् में एक जगह अलङ्कार के ढङ्ग से गार्हस्थ्य शरीर को उतना बतलाया है जितना स्त्री और पुरुष दोनों मिल कर होते हैं। जब उसके दो भाग किये गये तो पति और पत्नी हुए। इसी लिये ये आधे-आधे भाग (पति + पत्नी) एक दाने की दो दालों अथवा पूरी सीप के दो भागों (आधे-आधे सीप) के सदृश हुए।* भाव इस का स्पष्ट

*१ सहैतावनास यथा स्त्री पुमाँसौ सं परिष्वक्तौ, स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयतः ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां, तस्मादिदमर्धं बृगल मिव। (बृहदारण्यकोपनिषद् १ । ४ । ३ ।)

है। जिस प्रकार एक दाने की दो दालें अथवा एक सीप के दोनों आधे, बराबर-बराबर होते हैं इसी प्रकार पति और पत्नी में समता होनी चाहिये तभी वे गृहस्थाश्रम को अच्छा और गृहस्थ-जीवन को श्रेष्ट बना सकते हैं। वेदादि सद् ग्रंथों में स्त्री जाति का बड़ा मान किया गया है और उन्हें समस्त वे अधिकार दिये गये हैं जो पुरुषों को प्राप्त समझे और माने जाते हैं। उदाहरण की रीति से कुछेक बातें यहाँ अंकित की जाती हैं।

दूसरा सर्ग

वेद और स्त्रीजाति

वेद में एक जगह कहा गया है कि स्त्री पति को प्राप्त करे। उत्पादन में समर्थ पति उसे सफल मनोरथ करे, वह रानी बन कर उत्तम पुत्र पैदा करे और पति को प्राप्त होकर शोभा प्राप्त करे*।

फिर एक दूसरी जगह कन्याओं को ब्रह्मचर्य्य का पालन करके युवा पति के साथ विवाह करने की शिक्षा दी गई है×

*इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगाँ कृणोतु। सुवाना पुत्रान महिषी भवति। गत्वा पतिं सुभाग विराजतु॥अथर्व वेद २।३६ २

× अथर्ववेद ११।५।१८

अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मचर्य्य का व्रत पुत्रों के लिये आवश्यक है कन्याओं के लिये उसकी वैसी ही आवश्यकता बतलाई गई है।

अथर्ववेद ३।२५।१-६ में स्त्रियों में इन गुणों के होने का विधान किया गया है:—मृदु, विमन्यु (क्रोधरहित), प्रिय वादनी, अनुव्रता (पति के व्रत में सम्मिलित होने वाली), क्रतौ अमः (पति के कार्य्यों में सहायता देने वाली)

अथर्व १। १४।१-४ में उन्हें कन्या (कमनीया), कुलपा, ते (पत्युः) भगम् (अर्थात् पति का ऐश्वर्य्य) कहा है।

अथर्व १।२७।४ में स्त्रियों के नेतृत्व का इस प्रकार वर्णन है:—

इन्द्राण्येतु प्रथमाऽजीताऽमुषिता पुरः।

अर्थात् जिसे कोई जीत न सके, न कोई लूट सके, ऐसी इन्द्राणी का अर्थ सेनापत्नी किया गया है। अर्थात्, उन्हें युद्ध में सेना के नेतृत्व का भी अधिकार वेद ने दिया है:—

अथर्व ३।८।२ में स्त्रियों को शूर पुत्री को देने वाली कह कर आवाहन किया गया है—

ऋग्वेद १०। ८५। ४६ में नवागता वधू को गृह की सम्राज्ञी कहा गया है।

यजुर्वेद में कन्या को अधिकार ही नहीं दिया गया बल्कि आवश्यक ठहराया गया है कि वह उस युवक से विवाह न करे जो एक से अधिक पत्नी रखने का इच्छुक हो।

यजुर्वेद १२। ६२ में उन्हें यह भी अधिकार दिया गया है कि दान, धर्म रहित और दूसरे अवगुण रखने वाले युवकों से विवाह न करें।

यजुर्वेद १२। ६२ में स्त्री को "निर्ऋते" (सत्याचरण करने वाली) कह कर विधान किया गया है कि 'यम'—नियन्ता पुरुष और यम्या-न्याय करने वाली स्त्री के साथ पृथ्वी पर आरूढ़ हो, जिस का भाव यह है कि प्रबन्ध और न्याय दोनों विभागों में उन्हें भाग लेने का आदेश है। अब इस प्रकरण का अधिक बढ़ाना उचित नहीं है। जितना लिखा गया है वह यह प्रगट कर देने के लिये पर्याप्त है कि वेद में जो अधिकार पुरुषों के हैं वे ही सब स्त्रियों को भी दिये हैं, और यही कारण है कि प्राचीन समय की स्त्रियों ने इतनी विद्योन्नति की थी। लोपा, मुद्रा आदि अनेक स्त्रियां

वेद की ऋषि कन्यायें थीं उन्होंने वेद मन्त्रों के अर्थों का प्रकाश किया और उनकी शिक्षा, स्त्री-पुरुष, सभी को दी।

बाल्मीकीय रामायण और स्त्री जाति

लगभग बाल्मीकीय रामायण के रचना काल में भी स्त्रियों का मान इसी प्रकार था। बाल्मीकीय रामायण में जगह-जगह इसके प्रमाण मिलते हैं उनमें से कुछ का यहाँ उल्लेख किया जाता है:—

(१) रामचन्द्र के युवराज होने की खबर सुन कर कौशल्या जी ने प्राणायाम करते हुए ईश्वर का ध्यान किया। *

(२) रामचन्द्र जब कौशल्या के गृह में गये तो उन को हवन करते हुए देखा। ×

(३) रामचन्द्र के वन जाने पर उनकी मङ्गल कामना से कौशल्या ने घृतादि से हवन किया। +

*श्रुत्वाण पुष्पे पुत्रस्य यौवराज्याभिषेचनम्। प्राणायामेन पुरुष ध्यायमाना जनार्दनम्। (अयो० ४। ३३)

× प्रविश्य तु तदारामा मातुरन्तः पुर शुभम्। ददर्श मातरं तत्र हावयन्ती हुवाशनम्। (अयो० १०। १६)

+हावयामास विधवा राम मंगल कारणात्। घृतं श्वैतानि माल्यानि समिधास्वेतव सर्षपान्। (अयो० १५। १८

(४) जब रामचंद्र सीता के गृह में वन जाने की अनुमति लेने के लिये आये, तब सीता ने रामचंद्र के निषेध करने पर भी उनसे कहा कि "यदि आप वन जावेंगे तो मैं तुम्हारे आगे चल कर रास्ते में जो झाड़ी और कांटे होंगे उन्हें साफ़ करती चलूंगी"*। उस (सीता) ने यह भी कहा कि "मुझे माता और पिता ने सब प्रकार की शिक्षा दी है इसलिये आपको 'किन्तु परन्तु' न करके जो मैं कहती हूं उसे मानना चाहिये×।" जब फिर भी रामचन्द्र ने सीता को अपने इरादे को छोड़ने का आग्रह करते हुये अवध ही में रहने की बात कही और कहा कि जब मेरे पीछे भरत तुम्हें नमस्कार करने के लिये आया करें तो उनके सामने तुम मेरी बड़ाई न करना क्योंकि राजा लोग दूसरों की प्रशंसा नहीं सुना करते हैं। तब सीता ने बड़ी तेजस्विता प्रदर्शित करते हुये रामचन्द्र से कहा कि आप क्यों इस

* यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव। अग्रस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकंटकान्। (अयो० २७।७)

× अनुशिष्टाऽस्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्। नास्मि संप्रति वक्तव्या वर्तितव्यम् यथा मया। (अयो० २७। १०)

प्रकार की बातें करते हैं जो आप जैसे राजकुमारों को शोभा नहीं देतीं। उसने यह भी कहा कि "यदि मेरे पिता (जनक) यह जानते कि रामचंद्र पुरुष के रूप में स्त्री ही हैं तो वे तुम्हारे साथ मेरा विवाह कभी नहीं करते×।" इससे स्पष्ट है कि समय पड़ने पर स्त्रियां पुरुषों को ताड़ना भी कर सकती थीं।

(५) जब शत्रुघ्न मन्थरा को, यह जान कर कि सारी अशान्ति का कारण यही है, बध करने लगे तो भरत ने शत्रुघ्न से कहा कि स्त्रियां अवध्य हैं* इसलिये तुम इसे क्षमा कर दो। भरत ने यह भी कहा कि यदि रामचन्द्र सुन लेंगे कि तुमने इस मन्थरा का वध कर दिया है तो याद रक्खो कि वे तुम से और मुझसे बोलना भी पसन्द न करेंगे×।

× किं त्वाऽमन्यत वैदेहः पिता मे मिथलाधिपः। राम्। जामातरं प्राप्य स्त्रियम् पुरुष विग्रहम्। (अयो० ३०।३)

*अवध्या सर्व भूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति।
(अयो० ७८।२१)

× इमामपि हतां कुब्जां जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यतेध्रुवम॥
(अयोध्या कांड ७८।२३)

(६)जिस समय लक्ष्मण, रामचन्द्र जी के भेजे हुए पंपापुरी में इस लिये प्रविष्ट हुए कि सुग्रीव को भर्त्सना करें तो सुग्रीव भयभीत हो कर स्वयं लक्ष्मन के सामने नहीं आया, किन्तु अपनी स्त्री तारा को भेजा और कहा कि 'तुझ को देख कर लक्ष्मण क्रोध न करेंगे क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष स्त्रियों के साथ कठोरता का व्यवहार नहीं करते।'*

रामायण के उपर्युक्त उद्धरण से यह बात अच्छी तरह प्रमाणित होती है कि उस समय तक वेदों की शिक्षानुसार स्त्रियों को सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे और उन का समाज में समुचित मान था।

तीसरा सर्ग

स्त्री-पुरुष की समता और प्राणी शास्त्र

प्राणी शास्त्र में जीवों के दो भेद हैं (१) अनुलोम परिणामी (Creating body) जिसमें निर्माण क्रिया तत्पर शक्ति है।
(२) प्रतिलोम परिणामी (Desroying body) जिस

*त्वद्दर्शने विशुद्धात्मा न स्म कोपं करिष्यति।
नहि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम्॥

(किष्किंधा। ३३। ३६

में विध्वंस कारी बल होता है। विध्वंस सदैव रचना के बाद हुआ करता है। इस लिये पहला नम्बर स्त्री का और दूसरा पुरुष का होना चाहिये। कम-से-कम उन की समानता में तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती।

स्त्री पुरुषों की समता का अभिप्राय

ऊपर जो स्त्री पुरुषों की समता प्रदर्शित की गई है उस का तात्पर्य केवल इतना है कि अपनी-अपनी जाति (Sex) की दृष्टि से जो अधिक-से-अधिक जितनी उन्नति कर सकता है वह (उन्नति) का द्वार प्रत्येक के लिये खुला रहना चाहिये। अन्यथा कुछेक कार्य ऐसे हैं कि जो केवल पुरुषों के लिये सीमित हैं और कुछ ऐसे हैं कि जो केवल स्त्रियों से सम्बंधित हैं। जो कार्य केवल पुरुषों के हैं उन्हें स्त्रियाँ नहीं कर सकतीं और जो कार्य केवल स्त्रियों के करने के हैं उन्हें पुरुष नहीं कर सकते। इन्हीं कतिपय कर्त्तव्यों की विषमता की दृष्टि से बेलजियम की रानी इलेज़ेबेथ ने स्त्री पुरुषों की समता का निषेध किया है। †

† They are, says Elezabath queen of Belgians not eqels, they are different biologically and mentally Men have interpretative brains. (Glimpses of the Great by G. S. Viereck published in Lonon.)

स्त्री पुरुषों की शिक्षा में भेद आवश्यक है

कर्तव्य की भिन्नता की दृष्टि से स्त्री पुरुषों की शिक्षा में भिन्नता का होना अनिवार्य है। यह देश का दुर्भाग्य है कि वर्तमान सरकारी शिक्षा के संचालक इस महत्त्व की बात के समझने में आना कानी किये चले जाते हैं।

आर्य्य समाज अपने जन्म काल ही से पुत्र-पुत्रियों को शिक्षा पार्थक्य का समर्थन करता आ रहा है। अब तक उस की बात पर ध्यान नहीं दिया गया था। प्रसन्नता की बात है कि कलकत्ता यूनिवर्सिटी के संचालकों ने अब इस सिद्धान्त को स्वीकार करके इस के अनुकूल कार्य करने का निश्चय किया है×। पश्चिम के देशों में भी अब तक स्त्री पुरुषों की शिक्षा की विभिन्नता का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जाता था।

×दिसम्बर १६२१ में एक कमेटी बनाई गई थी। जिस का प्रधान वायस चांसलर था, इस उद्देश्य से कि वह मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा के वर्तमान नियमों की जाँच करके उचित सिफारिश करे। अन्य बातों के साथ इस कमेटी ने सर्व सम्मति से सिफारिश की है कि कन्याओं के लिये इस परीक्षा की पाठ विधि पृथक् बनाई जावे इत्यादि (देखो लीडर, १२-६-३२)

परन्तु बेढङ्गी शिक्षा के बहुसंख्यक तलाक रूप के बेढंगे फल से उन्हें भी बाधित होना पड़ा कि विभिन्नता के सिद्धान्त को मानें और उस के अनुकूल कार्य करें। जरमन देश ने इस मामले में पहल की है।

स्त्री शिक्षा और जरमन-देश

जरमन देश में एक विश्वविद्यालय इसनाचनगर में स्त्रियों के लिए ही खोला गया है। इस में उन समस्त बातों की शिक्षा दी जाती है जो एक स्त्री को अच्छी गृह-पत्नी बनने के लिये आवश्यक हैं। उपर्युक्त विद्यालय के मुख्याध्यापक ने एक विज्ञप्ति द्वारा प्रगट किया है कि इस प्रकार के विद्यालय देश के प्रत्येक बड़े-बड़े नगरों में भी शीघ्र ही खुलने वाले हैं। वर्त्तमान सम्मिलित शिक्षा के कुप्रभाव से स्त्रियाँ नहीं जानतीं कि किस प्रकार पतियों को प्रसन्न रख कर गृह में प्रसन्नता बढ़ाई जा सकती है। वह बच्चों को उत्पन्न करना, गर्भ की रक्षा करना, उत्पन्न बालकों का किस प्रकार पालन-पोषण किया जाता है, किस प्रकार घर के अन्य कार्य किए जाते हैं, इन सब बातों से सभी अनभिज्ञ होती हैं। इन्हीं सब कमियों को पूरा करने के लिए यह विद्यालय खोले जा रहे हैं। इस विश्वविद्यालय की दो प्रकार की डिगरियाँ हैं। एक

के लिये ३ मास और दूसरी के लिये ६ मास की पढ़ाई नियत है। पढ़ाई समाप्त होने पर कन्याओं को डिग्रियाँ दी जाती हैं।"*

चौथा सर्ग

गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के लिये योग्यता

गृहस्थ में प्रविष्ट होने वाले पुत्र और पुत्रियों के लिये प्रथक्-प्रथक् योग्यताओं की ज़रूरत है। दोनों की योग्यता का विवरण नीचे दिया जाता है।

पुरुष की योग्यता

(१) पहली बात जो किसी भी पुरुष के लिये आवश्यक है वह ब्रह्मचर्य्य है। उसे कम-से-कम २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य के नियमों के साथ विद्याध्ययन करने के बाद ही गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की इच्छा करनी चाहिये।×

*देखो तेज २८ फ़रवरी १९३३ ई०

× वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथा क्रमम्।
अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रम माविशेत ॥ मनु० ३। २

अर्थात् क्रम से चार, तीन, दो अथवा एक ही वेद पढ़ कर अखण्डित ब्रह्मचर्य्य का पालन करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

(२) दूसरी बात यह है कि उसके पास धन होना चाहिये जिस से वह अपना तथा अपनी होने वाली स्त्री का निर्वाह कर सके। यदि धन न हो तो कोई व्यवसाय प्रारम्भ करके निर्वाह का साधन करले तभी किसी युवक को विवाह करना चाहिये।*

(३) युवक को अपना दृष्टिकोण ऐसा बना लेना चाहिये जिस से वह, अपनी होने वाली पत्नी को समानाधिकार वाले मित्र की तरह समझे और उसी प्रकार का व्यवहार कर सके।

(४) इस बात का दृढ़ सङ्कल्प कर लेना चाहिये कि एक पत्नी व्रत के नियम को कठोरता के साथ पालन करेगा और किसी हालत में भी इस नियम को तोड़ कर एक पत्नी की मौजूदगी में दूसरा विवाह या पर स्त्रीगमन नहीं करेगा।×

(५) विवाह का उद्देश्य उत्तम सन्तान पैदा करना है, इसे पूर्ण रीति से अपने लक्ष्य में रखना चाहिये।

*धीः श्रीः स्त्रीम्॥ पिंगलाचार्य्य ने विवाह के द्वारा स्त्री प्राप्त करने से पहले (धीः श्रीः) विद्या और धन प्राप्त करना पुरुष के लिये आवश्यक ठहराया है।

× वेद एक पत्नी व्रत के विधायक हैं देखो निम्न मंत्रः—

महाभारत में एक जगह लिखा है कि जब श्रीकृष्ण जी ने रुक्मणी से विवाह कर के सन्तान पैदा करना चाहा तो पति और पत्नी दोनों बारह-बारह वर्ष* तक ब्रह्मचर्य्य

अहंवदामि नेतत्वं सभायामह त्वं वद।
ममे दसस्त्व केवलो नान्या सां कीर्त्तयाश्चन ॥
(अथर्व० ७। ३८। ४)

अर्थात् (पत्नी कहती है) मैं कहती हूँ तू एकान्त में न बोलो बल्कि पभा में निश्चय पूबक बोल मेरा ही हो कर रह। अन्य (स्त्रियों) का नाम तक न ले ॥

अभित्वा ननु जातेम दधामि मम वाससां।
यथा सो मम केवलो नान्या सां कीर्तयाश्चनः ॥२॥

अर्थात् मेरे, विचार के साथ बनाये वस्त्र से तुझे मैं (प्रेम के सूत्र से) बाँधती हूँ जिससे तू एक मात्र मेरा, हो कर रह और अन्य स्त्रियों का नाम तक न ले।

प्रथम मंत्र में वधू सभा में पती से एक पत्नी व्रत की प्रतिज्ञा कराती है और मंत्र में अपने अपने [वस्त्र बना कर देने आदि] कृत्यों से पति को प्रेम के सूत्र में बाँधे रखने की स्वयं प्रतिज्ञा करती है।

(४) ब्रह्मचर्यं महद्घोरं चीर्त्वा द्वादश वार्षिकम्।
हिमवत्त पार्श्वमभ्येत्य यो मया तपसार्जितः ॥

पूर्वक रह कर दोनों ने अपने को उत्तम सन्तान पैदा करने के योग्य बनाया, तब सन्तान पैदा की। उसी का फल था कि प्रद्युम्न जैसा अपूर्व पुत्र उत्पन्न हुआ। जिसे स्वयं कृष्ण जी ने सनत कुमार के समान तेजस्वी प्रगट करते हुए अपना पुत्र कहा है। श्रीकृष्ण जी के इस कृत्य का, प्रत्येक उत्तम सन्तान के इच्छुक गृहस्थ को अनुकरण करना चाहिये तभी वह उत्तम सन्तान पैदा करने के योग्य बन सकता है।

(६) घर का समस्त कोष—धन आदि पत्नी के अधिकार में रहेगा और वह केवल निरीक्षण रखेगा। जिस से अपव्यय न होने पावे, इस प्रकार की मनोवृत्ति बना कर ही किसी का विवाह करने के लिए सन्नद्ध होना चाहिये।

स्त्री की योग्यता (१) कन्या को भी कम से कम १६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए

समानव्रत चारिण्यां,
रुक्मिण्यां यो ऽन्वजायत।
सनत्कुमार तेजस्वी,
प्रद्युम्नो नाम मेसुतः॥
(सौप्तिक पर्व अध्याय १२)

अध्ययन करके अपने को अच्छा बनाना चाहिये।*
(२) गृहकार्यों में कुशलता, सीना-पिरोना आदि में दक्षता, सन्तान के पालन पोषणादि में सिद्धहस्तता प्राप्त करके ही कन्या को गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना चाहिये।
(३) पातिव्रत—धर्म पालन करने में दृढ़ सङ्कल्प होना चाहिये और किसी भी दशा में पर पुरुष का पति के स्थान में स्थान नहीं देना चाहिये।

*ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥ १ ॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। अथर्व ११।५।'*
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ २ ॥ मनु०

अर्थात्—रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष के बाद चौथे वर्ष में कन्या अपने सदृश पति से विवाह की इच्छा करे।
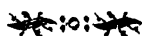
दूसरा अध्याय

——(*:*)——

पहला सर्ग

गृहस्थ में प्रवेश और प्रतिज्ञा

गृहस्थ में प्रवेश का नाम विवाह-संसकार है। विवाह दो शब्दों से बना है "वि" और "वाह"। "वि" उपसर्ग यहाँ विशेष (असाधारण) अर्थ में है। 'वाह' नाम यान (गाड़ी) का है, अर्थात् गृहस्थाश्रम एक विलक्षण गाड़ी है। स्त्री-पुरुष जिस के दो पहियों के सदृश हैं। विवाह के दूसरे अर्थ ले जाना और प्रयत्न आदि के भी हैं— अर्थात् विवाह उस क्रिया का

नाम है जिस के द्वारा विशेष रीति से गृहस्थाश्रम में पुरुष स्त्री जाते हैं अथवा गृहस्थाश्रम में विशेष प्रयत्न का नाम विवाह है।

विवाह की पहिली प्रतिज्ञा

सब से पहिली प्रतिज्ञा जो पुरुष-स्त्री को विवाह में करनी पड़ती है, यह है:—

ओं समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥
(ऋ० मं० १० सूक्त ८५ मं० ४७)

अर्थात् हे (विश्वेदेवाः) सभा में उपस्थित विद्वानों। आप (समञ्जन्तु) निश्चय करके जानें कि (नौ) हम दोनों के (हृदयानि) हृदय (आपः) जल के समान (सम) मिले हुए हैं। हम (मातारिश्वा) प्राण वायु की तरह (सम) समता रक्खेंगे (धाता) जगत के धारण कर्ता परमात्मा की तरह हम एक दूसरे को (सम्)धारण करेंगे (समुदेष्ट्री) उपदेशक जैसे श्रोताओं से प्रीति रखता है (नौ) हम दोनों उसी प्रकार एक-दूसरे से दृढ प्रेम को (दधातु) धारण करेंगे।

स्पष्ट है कि वर और वधू दोनों ही एक-दूसरे के साथ प्रेम-पूर्वक व्यवहार रखने की प्रतिज्ञा करते हैं। यही बात अब पश्चिम के विद्वानों ने

भी स्वीकार कर ली है। डॉक्टर मेंगनस हिर्शफेल्ड (Dr. Mangnus Hirsch Fald) ने एक जगह* इस प्रकार लिखा है:— Happy marriages are not made in heavens but in the laboratory both tha man and women should be carefully examined, not only with regard to their fitness to mary but whether they are fit to marry each other.

अर्थात् हर्ष प्रद विवाह स्वर्ग में नहीं किन्तु रसायन शालाओं में होते हैं। पुरुष और स्त्री की वहाँ जांच होनी चाहिये। न केवल इस सम्बंध में कि वे विवाह के योग्य हैं अपितु इस सम्बंध में भी कि वे (स्त्री और पुरुष) दोनों एक-दूसरे को प्रसन्न रखने की योग्यता रखते हैं या नहीं।

विवाह की दूसरी प्रतिज्ञा पाणि-ग्रहण के मंत्रों में से एक मंत्र में पति-पत्नी के भरण-पोषण की प्रतिज्ञा करता है:—

ओं ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वाऽदाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम्॥
अथर्व १४। १। ५२

*देखो Leader Allahabad Dated 3-8-1931.

अर्थात् (वर वधू से कहता है) (बृहस्पतिः) महान ईश्वर ने (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझ को (अदात) दिया है (इयम्) यह (मम) मेरी (पोष्या) पोषण करने योग्य पत्नी (अस्तु) हो। हे प्रजावति वधू तू (मया, पत्या) मुझ पति के साथ (शतम शरदः) १०० वर्ष पर्यन्त (शं, जीव) सुख पूर्वक जीवन धारण करे।

विवाह की तीसरी प्रतिज्ञा — ओं अमोऽहमस्मि सात्वꣳ सात्वमस्यमोऽहं साम हमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवीत्वं तावेव विवहावहै सहरेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विंदावहै बहून्। ते संतु जर दष्टयः सं प्रियौ रोचिष्णु सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत शृणुयां शरदः शतम। अथर्व० १४। २। ७१

इस मंत्र द्वारा वर वधू से प्रतिज्ञा करता है:—

हे वधू जैसे (अहम्) मैं (अमः) ज्ञान पूर्वक तेरा ग्रहन करने वाला (अस्मि) होता हूं (सा, त्वं) वैसे ही तू भी मेरा ग्रहन करने वाली (असि) है। (अहम्) मैं तुझे (अमः) ग्रहन करता हूं (सा, त्वं) तू मुझे (ग्रहण करती है)—(अहं, साम, अस्मि) मैं साम वेद के तुल्य हूं (त्वं, ऋक्) तू ऋग्वेद के तुल्य। (त्वं, पृथ्वी) तू पृथ्वी के समान ग्रहण करने हारी है।

[अहं, द्यौ] मैं वर्षा करने हारे सूर्य्य के समान हूं। [तावेव] दोनों ही [विवहावहै] प्रसन्नता पूर्वक विवाह करें। [सह, रेतः दधावहै] साथ मिल कर वीर्य को धारण करें। [प्रजा, प्रजनयावहै] उत्तम सन्तान उत्पन्न करें। [बहून, पुत्रान् विन्दावहै] बहुत पुत्रों को प्राप्त होवें। (ते) वे पुत्र (जर दृष्टय : सन्तु) जरा अवस्था के अन्त तक जीवन मुक्त रहें। (सं प्रियौ) अच्छे प्रकार एक दूसरे से प्रसन्न (रोचिष्णु) एक दूसरे में रुचि युक्त (सुमनस्य मानौ) अच्छे विचार रखते हुए (शतं शरदः, पश्येम) सौ वर्ष तक एक दूसरे को देखें। (शतं शरदः जीवेम) सौ वर्ष पर्यन्त जीवें। (शतं, शरदः, शृणुयाम्) सौ वर्ष तक सुनते रहें।

विवाह की चौथी प्रतिज्ञा

वधू लाजा होम करती हुई प्रतिज्ञा करती है—

ओं अर्यमणंदेवं कन्या अग्नि मयक्षत।
स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः॥
(पारस्कर गृह्य सूत्र १।६

अर्थात् (कन्याः) कन्यायें (आर्य्यमणम्) न्याय कारी (अग्नि देव) प्रकाशमान ईश्वर की पूजा करती हैं (सः) वह (अर्यमा देवः) न्यायकारी परमात्मा

(नः इतः) हम को इस पितृ कुल से (प्र, मुञ्चतु) छुड़ावे और पति कुल से न छुड़ावे।

अर्थात् कन्या पति कुल से पृथक् न होने की प्रतिज्ञा करती है। यह वैदिक विवाह के अटूट होने का प्रमाण है इसी प्रकार का ऋग्वेद का मंत्र है जिस इसी प्रकार पति कुल न छोड़ने की बात पति की ओर से कही गई

ओं प्रेतो मुञ्चामि नामुतस्सुबद्धा ममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगा सति॥

ऋ० १०। ८५। २५

पति एकान्त में वधु को धैर्य देते हुए इस मंत्र का पाठ करता है जिस में पति को आज्ञा दी गई है कि हे (इन्द्र, मीढ्वः) ऐश्वर्य वाले विवाहित पुरुष! (यथा) जिस प्रकार (इयम्) यह वधू (सुभगा, सुपुत्रा सति) सौभाग्यवती और अच्छे पुत्रों वाली हो वैसा यत्न कर और कन्या (वधू) से कह कि हे वधू! (इति) इस पितृकुल से तुझे (प्र० मुञ्चामि) तुझे छुड़ाता हूं (अमुति) उस पति के कुल से (न) नहीं क्योंकि (अमुतिः) इस पति कुल के साथ तुझे (सुबद्धाम्, करम्) अच्छे प्रकार सम्बद्ध कर चुका हूं।

विवाह की पाँचवीं प्रतिज्ञा

सप्तपदी की क्रिया द्वारा वर और वधू सात बातों की प्रतिज्ञा करते हैं जिन का विवरण इस प्रकार है:—

ओं इषे एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥१॥

(पार० का० १ क० ८)

अर्थात् हे कन्ये (इषे) अन्न के लिये तू (एकपदीभव) एक पग चलने वाली हो (सा) वह तू (माम्,अनु-व्रता) मेरे अनुकूल व्रत वाली हो (विष्णुः, त्वा, आ, नयतु) (इस अनुकूलता प्राप्ति के लिये) सर्व व्यापक ईश्वर तुझे अच्छे प्रकार प्राप्त करे अर्थात् तेरा सहायक हो, हम तुम दोनों मिल कर (बहून, पुत्रान्, विन्दावहै) बहुत से पुत्रों को प्राप्त करें और (तु, जरदष्टयः) वे पुत्र वृद्धावस्था पर्यन्त जीने वाले (सन्तु) हों।

ओं ऊर्ज्जे द्विपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ २ ॥

अर्थात (ऊर्ज) बल संपादन के लिये (द्विपदी) तू दो पग चलने वाली हो। शेष पूर्ववत ॥

ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णु-स्त्वानयतु पुत्रान् बिन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ ३ ॥

अर्थात् धन वा ऐश्वर्य की रक्षा के लिये तीन पग चलने वाली हो। शेष पूर्ववत ॥

ओं मयोभवाय चतुष्पदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदृष्टयः ॥४॥

अर्थात् सुखोत्पत्ति के लिये चार पग चलने वाली हो। शेष पूर्ववत ॥

ओं प्रजाभ्य पञ्चपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहुंस्ते सन्तु जरदृष्टयः ॥५॥

अर्थात् सन्तान उत्पन्न और पालन पोषण करने के लिये पाँच पग चलने वाली हो। शेष पूर्ववत ॥

ओं ऋतुभ्यः षटपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदृष्टयः ॥६॥

अर्थात ऋतुओं को अनुकूल बनाने के लिये ६ पग चलने वाली हो। शेष पूर्ववत ॥

ओं सखे सप्तपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदृष्टयः ॥७॥

अर्थात् यह हेतु-गर्भ सम्बोधन है। हे मित्र (वधू) मित्रता संपादन के लिये सात पग चलने वाली हो। शेष पूर्ववत ॥

गृहस्थाश्रम के कार्य्यों को पूरा करने के लिये मुख्य रीति से सात बातों की ज़रूरत हुआ करती है

अर्थात् अन्न, बल (निरोगता), धन, सुख और शान्ति सन्तान, ऋतुओं की अनुकूलता और दम्पत्ति में मित्र-भावना, इन्हीं की प्राप्ति के लिये वर और वधू दोनों प्रतिज्ञा करते हैं। इन की प्राप्ति के लिये चलने का अर्थ पुरुषार्थ करना है। अर्थात् इस प्रतिज्ञा का भाव यह है कि गृहस्थ जीवन पुरुषार्थ का जीवन होगा और वह पुरुषार्थ मुख्यता उपर्युक्त सात वस्तुओं के प्राप्त करने में व्यय होगा। इन सात पदार्थों का जो क्रम उपर्युक्त वाक्यों में रक्खा गया है, उसके भीतर यह भाव भी निहित प्रतीत होता है कि पहले की अपेक्षा दूसरा, और दूसरे की अपेक्षा तीसरा इसी प्रकार अन्तिम सातवाँ सब से अधिक परुषार्थ की अपेक्षा रखता है। इसी लिये उसके वास्ते सात पग चलने अर्थात् सब से अधिक चिन्ता रखने की आवश्यकता प्रगट की गई है।

विवाह की छठी प्रतिज्ञा

विवाह की छठी प्रतिज्ञा जो यहाँ नीचे के मंत्र में वर्णित है। इस प्रतिज्ञा को वर और वधू दोनों एक दूसरे को संबोधन करते हुए एक दूसरे से कहते हैं। वास्तव में जब तक पति और पत्नी दोनों एक दूसरे के अनुकूल और एक दूसरे के वश में रहने वाले न हों तो कोई भी गृहस्थ सद्-

गृहस्थ नहीं बन सकता, इसी लिये गृहस्थाश्र को सुख-मय बनाने के उद्देश्य ही से यह प्रतिज्ञा की जाती है:—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥
(पार० का० २ कं० २)

अर्थात् [ते हृदयम्] तेरे हृदय को अपने [व्रते] व्रत कर्म की अनुकूलता में [दधामि] धारण करता हूं। [मम, चित्तमनु] मेरे चित्त के अनुकूल [ते, चित्तं, अस्तु] तेरा चित्त हो [मम वाचम्] मेरी बात को, तू (एकमनाः) ध्यान लगाकर (जुषस्व) सेवन कर (प्रजापतिः त्वा, मह्यम्, नियुनक्तु) प्रजापति परमेश्वर तुझ को मेरे लिये नियुक्त करें।

विवाह की सातवीं प्रतिज्ञा — यह प्रतिज्ञा वर वधू से कराता है:—

ओं लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वारोकेषु च यानि ते तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं
(सा० मन्त्र० ब्राह्मण म० १)

ओं केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत्। तानि...(,,२)
ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्। तानि..(,,३)
ओं आसेकेषु दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्। तानि..(,,४)
ओं ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः संधानेषु च यानि ते। तानि..(,,५)

ओं यानि कानि घोराणि सर्वांगेषु नवा भवन् ।
पूर्णाऽऽहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं ॥ (६)

अर्थात् (वर वधू से कहता है कि) (लेखा-सन्धिषु) रेखा मस्तकादि की संधियों में (पक्ष्मसु) नेत्रों के लोमों में (च, आरोकेषु) और नाभि रन्ध्रादिकों में × × ॥१॥

[यत्, च, केशेषु] और जो बालों में [ईक्षिते:] आंखों के सम्बन्ध में [यत, च, उदिते] चलने फिरने में [पापकम्] जो पाप [रोग] होगा + + ॥२॥

[यत, च, शीलेषु] और जो स्वभाव-आदत में [यत, च, भाषिते, हसिते] और जो बोलने तथा हंसने में [पापकम्] त्रुटि होगी × × ॥३॥

[च, आरोकेषु] और जो दाँतों के बीच में [दन्तेषु] दाँतों में [यत, च, हस्तयो:,] और जो हाथ पाँव में रोग होगा + + ॥४॥

[ऊर्वो:] जांघों [उपस्थे] जननेन्द्रिय में रोग होगा + + ॥५॥

[च, तव, सर्वाङ्गेषु] और तेरे सब अंगों में [यानि, कानि, घोराणि] जो कोई त्रुटि या रोग [अभवन्] हो गया, या होगा, इस घृत की [आज्यस्य, पूर्णाहुतिभि:] पूर्णाहुति

के द्वारा [तानि, सर्वाणि] उन सब के [अशीशमम्, शमयामि, अहम्] शांत और दूर करने की प्रतिज्ञा कर चुका और करता हूं।

विवाह की आठवीं प्रतिज्ञा वर वधू को ध्रुव और अरुन्धति तारों को दिखलाता है। वधू इन तारों के दिखाने का अभिप्राय समझ कर प्रतिज्ञा करती है:—

ओं ध्रुवमसि ध्रुवाऽहं पति कुले भूयासम् ॥ (गोभि० गृ० सूत्र २।३।६)
ओं अरुन्धत्यसि रुद्धाऽहमस्मि ॥ (२।३।१०।२१)

अर्थात् हे ध्रुव नक्षत्र तू जैसा निश्चय है वैसे ही मैं पतिकुल में [ध्रुवा, भूयासम्] निश्चल होऊं ॥१॥

अरुन्धति तारे! जैसे तू सप्तऋषि तारों के निकट सर्वदा [रुद्धा] रुका रहता है वैसे ही मैं भी पतिकुल में रुकी रहूं ॥२॥

नोट—यह प्रतिज्ञा भी स्थिर और अटूट विवाह का प्रदर्शन करती है।

विवाह का नवमी प्रतिज्ञा वर और वधू दोनों अपने अपने हृदयों में परस्पर अभेद रखने की प्रतिज्ञा करते हैं:—

ओं यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।
यदिदं हृदय मम तदस्तु हृदयं तव ॥
(मंत्र ब्राह्मण १।३।६)

अर्थात् जो यह तेरा हृदय है वह मेरा हृदय हो और जो यह मेरा हृदय है वह तेरा हो ॥

विवाह की दसवीं और अन्तिम प्रतिज्ञा

वर वधू से प्रतिज्ञा कराता है कि पति-कुल में किस प्रकार रहे, और वधू इन मंत्रों का उच्चारण करके आहुति देने के द्वारा प्रतिज्ञा करती है:—

ओं इह रतिःस्वाहा, ओं इह रमस्व स्वाहा, ओं मयि धृतिः स्वाहा,
ओं मयि स्वधृतिः स्वाहा, ओं मयि रमः स्वाहा,
ओं मयि रमस्व स्वाहा ॥

(मा० मं० प्र० १ खंड ३ मंत्र १४)

अर्थात् यहां [रतिः] अनुराग बना रहे, यहां तभी [रमस्व] रमण किया करे, मुझ में धैर्य बना रहे। मुझ में उत्तम धैर्य बना रहे। [मयि रमः] मुझ में [मेरे पदार्थों में] रमण किया कर, [मयि रमः] मुझ में ही रमण किया कर ॥

इस प्रकार इन उपर्युक्त दस प्रतिज्ञाओं को करके वर और वधू गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं—

दूसरा सर्ग

अनमेल विवाह का निषेध

कामममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि । न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ मनु०

अर्थात् चाहे मरण पर्यन्त कन्या पिता के घर में बिना विवाह के बैठी रहे परन्तु गुण-हीन पुरुष के साथ उसका विवाह कभी न करे ॥

जो पुरुष [माता-पिता] धन के लालच से अयोग्य पुरुषों के साथ कन्या का विवाह कर देते हैं उन के लिये एक पुराण में बड़ी कठोर बात लिखी है—

कन्या यच्छति वृद्धाय नीचाय च धनलिप्सया ।
कुरूपाय कुशीलाय स प्रेतो जायते नरः ॥
(स्कन्ध पुराण)

अर्थात् जो पुरुष धन की लालसा से किसी बूढ़े, नीच, कुरूप और कुशील पुरुष के साथ कन्या का विवाह कर देते हैं ऐसे पुरुषों की संज्ञा प्रेत हो जाती है भाव इसका यह है कि अनमेल विवाह हानिकारक है इस लिये गुण, कर्म और स्वभाव की प्रतिज्ञा करके वर और वधू दोनों में इन की समता पाये जाने ही पर उनका विवाह होना चाहिये ।

विवाह यथा सम्भव दूर देश में होना चाहिय

विवाह यथा सम्भव दूरदेश में होना चाहिए। एक ही परिवार के अथवा समीप ही के रहने वाले वर और वधू जिनकी परवरिश और शिक्षा आदि एक ही परिस्थिति में रहते हुये हुई है उनकी सन्तान आम तौर से निर्बल होती है। सन्तान को बलवती बनाने के लिए आवश्यक है कि वर और वधू दूरदेश के और पृथक्-पृथक् परिस्थिति में रहनेवाले हों। आर्य जाति में सगोत्र विवाह इसी कारण से निषिद्ध हैं। अब पश्चिमी विद्वानों ने भी इसके महत्त्व को समझ लिया है। डाक्टर मैंगनस हिर्शफेल्ड Dr. Mangnus Hirsch fell ने एक जगह लिखा है—

Marriage between blood relatives, specially if both are brought up in the same environment, and are similar in type, is apt to accentuate in the family perhaps for this reason such marriages among the Hindus home no religious sanction behind them. †

अर्थात् जो विवाह ऐसे वर वधू के होते हैं, जिनका परस्पर खून का रिश्ता है और विशेष कर जो

† The Daily Leader Allahabad. Dated 3·8·1931

एक ही परिस्थिति में पले हैं और एक ही टाइप के हैं उन से परिवार में निर्बलता आती है और बढ़ती रहती है कदाचित् इसी कारण से ऐसे (सगोत्र) विवाह हिंदुओं में धर्म-विरुद्ध समझे जाते हैं।

यास्काचार्य ने भी दुहिता दुहिता दूरेहिता भवतीति। लिखकर प्रमाणित किया है कि जितना दूरदेश में विवाह होगा, उतना ही उन [वर और वधू] के लिए लाभदायक होगा।

विवाह कब होना चाहिये

विवाह करने के लिये उत्तरायण शुक्ल पक्ष अच्छा समझा जाता है* किन्तु आवश्यकता होने पर वर्ष में किसी समय किया जा सकता है×। विवाह के दो भाग हैं—पूर्व विधि, उत्तर विधि। इन में से पहली विधि में सूर्यविलोकन है और दूसरी उत्तर विधि में ध्रुव और अरुन्धति तारों को देखने का विधान है इसलिये विवाह इसी प्रकार से शुरू करना चाहिये। पूर्व विधि संध्या समय होने तक समाप्त हो जाये। उस के बाद संध्या आदि से निवृत्त होकर कुछ विश्राम

---

* उदगमन आपूर्य्यमाण पक्षे पुण्य नक्षत्रे चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः ॥ (आश्वलायन गृ० सू० १।४।१)

×+ सार्वकालमेके विवाहम् (...........)

करके तब उत्तर विधि शुरू करनी चाहिये। जिस से नौ बजे तक वह समाप्त हो जावे।

विवाह की आयु सुश्रुत में लिखा है—

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिं, यौवन सम्पूर्णता किञ्चित्परि हाणिश्चेति तत्राषोडशाद् वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतस्सम्पूर्णता। ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥

अर्थात् मनुष्य के शरीर की ४ अवस्थाएं हैं:— एक वृद्धि, दूसरी यौवन, तीसरी संपूर्णता, चौथी किञ्चित्परिहाणि। इन में १६ वर्ष से शुरू होकर २४ वें वर्ष समाप्त होने वाली वृद्धि, २५ वें वर्ष से शुरू हो ३९ वें वर्ष समाप्त होने वाली युवावस्था। ४० वें वर्ष में सम्पूर्णता हो जाती है। उसके बाद कुछ हानि होने लगती है।

२५ वें वर्ष में पुरुष और १६ वें वर्ष में स्त्री सम वीर्यवान् होते हैं। अर्थात् पुरुष की वृद्धि अवस्था २५ वें वर्ष में और स्त्री की १६ वें वर्ष में समाप्त हो जाती है। इसलिये वृद्धि अवस्था समाप्त होने से पहले पुरुष या स्त्री किसी को भी धातुओं का नाश नहीं करना चाहिये।

यदि कोई करेगा तो ऋषि दयानन्द के कथनानुसार "कुल्हाड़े से कटे वृक्ष और डंडे से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश करके पश्चात्ताप करेगा× ।"

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि २५ और २६ वर्ष से पहले पुत्र और पुत्रियों का विवाह नहीं होना चाहिये। विवाह की कम से कम आयु २५ और १६ वर्ष है। इस के बाद विवाह की आयु इस प्रकार है :— स्त्री १७,१८,१६,२०,२१,२२, या २४ वर्ष की हो, तो इसी क्रम के अनुसार पुरुष की आयु ३०,३६,३८,४० ४२,४६ और ४८ वर्ष होनी चाहिये।

विवाह मे कितना व्यय होना चाहिये ?

संस्कार मनुष्य जीवन को श्रेष्ठता की ओर ढालने के लिये उत्कृष्ट साधन है। परन्तु पौराणिक काल में इन को इतना मंहगा बना दिया गया कि उनका प्रचार बराबर कम होता गया और अन्त में इनका ढांचा-ही-ढांचा बाकी रह गया। इस संबंध में एक घटना का उल्लेख करना कदाचित् अनुचित न होगा। एक बार मैं एक बड़े नगर में उपनिषदों की कथा कह रहा था। एक बंगाली सज्जन अपने बच्चों को लेकर कथा से कुछ पहले

× संस्कारविधि पृष्ठ १०१ (नववां संस्करण)

ही प्रति दिन आ जाया करते थे और बड़ी श्रद्धा के साथ कभी कभी एक दो बात पूछ लिया करते थे। एक दिन संस्कारों की बात चलाने पर उन्होंने प्रकट किया कि बंगाल में यज्ञोपवीत संस्कार करना कितना कठिन काम है। जिस समय पुरोहित संस्कार की तिथि नियत करता है तो इस तिथि नियत करने के उपलक्ष्य में अनेक थान भिन्न भिन्न कपड़ों के और कुछ धन भी दक्षिणा में देना पड़ता है। जब संस्कार होता है तो स्वयं संस्कार के मंहगे खर्च के सिवाय समस्त बिरादरी का भोज देना पड़ता है। इस प्रकार जिन के पास हज़ार आठ सौ रुपये न हों तो वह यज्ञोपवीत संस्कार नहीं करा सकता। उन्होंने यह भी प्रकट किया—ब्राह्मण होते हुये भी उन्होंने अपना या किसी बच्चे का यज्ञोपवीत इसी लिये नहीं कराया। इस प्रकार यज्ञोपवीत संस्कार की प्रथा ही बंगाल से बराबर उठती जा रही है। जब मैंने उन्हें बतलाया कि संस्कारविधि के अनुसार यह संस्कार रुपये दो रुपये में हो सकता है, तब उन्होंने संस्कारविधि के देखने और उसके अनुसार यज्ञोपवीत कराने की इच्छा प्रकट की। अस्तु, तात्पर्य यह है कि संस्कार अधिक से अधिक सस्ता होना

चाहिये, जिस से उन के कराने में किसी को संकोच न हो। पौराणिक रीति से विवाह कराने में इतना व्यय होता है कि साधारण गृहस्थों का ऋण लिये बिना काम ही नहीं चलता। जो भाई वैदिक रीति से विवाह करते हैं उन में से अधिकतर ने उसे मंहगा बना रहने दिया है। इसका कारण यह है कि विवाह के साथ जो अनेक व्यर्थ कार्य्य विवाह के "लवज़िमे" के ज़ोर पर पौराणिक पद्धति के अनुसार किये जाते थे वे सब ज्यों के त्यों वैदिक पद्धति वालों ने अपना रक्खे हैं। वर्षों पहले से विवाह की भूमिका बंधनी शुरू हो जाती है।

विवाह के साथ अनेक व्यर्थ की रस्में

फलदान तिलक आदि की प्रथायें सैकड़ों रुपये व्यय किये बिना पूरी नहीं हो सकतीं। बारात का कई कई दिन ठहरना, कहीं कहीं तो सप्ताहों बारात ठहरा करती है। बारात में काफी भीड़ जमा करके ले जाना, तीन-चार दिन तक भिन्न भिन्न प्रकार के भोज देना। खास खास रसमों के मौके पर तो जैसे कन्या दान आदि, बहुत से धन देने की प्रथा का अनिवार्य होना, जब बारात रुखसत होने लगे, तो प्रत्येक बाराती को "मिलनी" के नाम से दो-दो, चार-

चार रुपये का देना आदि अनेक व्यर्थ के काम हैं, जिन से वर और दूध दोनों पक्षों को, सैंकड़ों और कहीं कहीं हज़ारों रुपये खर्च करने पड़ते हैं। जिन जातियों में देने लेने की कुप्रथा प्रचलित है, उस का दुष्परिणाम, स्नेहलता आदि अनेक सुशिक्षिता और विचारशीला कन्याओं के आत्मघात के रूप में इन्हीं १५-२० वर्षों के मध्य में सभी देख और सुन चुके हैं। इन सब के बाद विवाह के परिशिष्ट रूप में द्विरागमन (गौना) होता है और इसमें भी सैंकड़ों रुपये खर्च होते हैं। ये सारी की सारी कुप्रथायें उन नर-नारियों को, जो वैदिक पद्धति का अनुसरण करते हैं, एकदम बंद कर देनी चाहियें। यदि संस्कारविधि के अनुसार वैदिक रीति से विवाह किया जावे तो ५०) से अधिक व्यय न होंगे। इतना-ही या इसके लगभग [दो चार रुपये न्यूनाधिक होने की कोई बात नहीं है] वैदिक विवाह में व्यय होना चाहिये। जो धन इन संस्कार सम्बन्धी कुछ प्रथाओं में खर्च होता है, वह इन से बचाकर पुत्र और पुत्रियों को अच्छी शिक्षा देने में व्यय करना चाहिये।

तीसरा अध्याय

पहला सर्ग

वेद और गृहस्थाश्रम वर और वधू उपर्युक्त भांति विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। गृहस्थाश्रम के अन्दर किस प्रकार की मनोवृत्ति पुरुष और स्त्री की होनी चाहिये इस का विषद वर्णन वेदों में है। उन में से कुछ एक बातों का यहां उल्लेख किया जाता है:—

सोमो वधुयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा। सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात ॥ १ ॥ (ऋ० १० । ८५ । ६)

अर्थात् [सोमः] शुभ गुण युक्त [वधुयुः] वधु का इच्छुक पति (तथा पति की इच्छुका वधू) [अश्विना] दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्त [अभवत्] होवें [उभा] दोनों [वरा] श्रेष्ठ [आस्ताम] होवें [यत्] जो [सूर्याम्] सूर्य की किरण की तरह (सौंदर्य गुणयुक्त) [पत्ये] पति के लिये [मनसा] मन से [शंसतीम्] गुण कीर्तन करने वाली वधू है उस को [सविता] जगदुत्पादक परमात्मा [ददात] देता है।

नोट--भाव इसका यह है कि पति और पत्नी दोनों गुण सम्पन्न और एक दूसरे की इच्छा करने वाले होने चाहियें।

इहैवस्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ २ ॥ (ऋ० १० । ८५ । ४२)

अर्थात् हे स्त्रीपुरुषो! इसी गृहस्थाश्रम में [स्तम्] रहो [मा, वियौष्टम्] एक दूसरे से पृथक मतहो [विश्वमायुर्व्यश्नुतम्] पूर्ण (१०० वर्ष की) आयु को प्राप्त होओ। [पुत्रैः] पुत्रों और [नप्तृभिः] पोतों के साथ [क्रीडन्तौ] क्रीड़ा करते हुये [स्वस्तकौ] दोनों उत्तम गृहवाले और [मोदमानौ] आनन्दित होते हुये रहो।

नोट--इस मंत्र में दोनों को प्रसन्न चित्त और सन्तति के साथ मनोरंजन करते हुये एक दूसरे से पृथक् होने के विचारों को सर्वथा पृथक् करके गृहस्थाश्रम में रहना चाहिये।

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः। स्योनाश्वश्रै प्र गृहान् विशेमान्॥ ३॥ (अथर्व० १४। २। २६)

अर्थात्-हे वधू। तू [सुमङ्गली] अच्छे मंगलाचरण करने तथा [प्रतरणी] दोषां से पृथक् रहने हारी [गृहाणां- सुशेवा] गृहों का उत्तम सुख हो के [पत्ये, श्वशुराय, श्वश्रै] पति, श्वशुर और सास का [शम्भूः स्योना] सुखकर्त्री और स्वयं प्रसन्न हुई [इमान्, गृहान्] इन घरों में [प्रविश] प्रवेश कर।

नोट--इस मंत्र में वधू को स्वयं सुखी रहने और समस्त आर्यों को सुखी रखने का आदेश दिया गया है।

स्योनाभव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टौमषां भव॥ ४॥ (अथर्व० १४। २। २७)

अर्थात्- हे वधू! तू [श्वशुरेभ्यः] श्वशुर के लिये [स्योना] सुखदायी [पत्ये] पति के लिये [स्योना] सुखदात्री [गृहेभ्यः] समस्त गृह के लिये [स्योना-

भव] सुख देने वाली हो और [अस्य, सर्वस्यै विशे] इस सब प्रजा के लिये [स्योना] सुखदात्री हो और [एषाम्, पुष्टाम् भव] इन सब के पोषण के लिये तत्पर हो।

नोट—इस मंत्र में वधू को समस्त गृह के लिये सुखदात्री और पोषण-कर्त्री होने का विधान किया गया है।

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि। वर्चो न्वस्यै संदत्तथास्तं विमेरतन ॥ ५ ॥ [अथर्व० १४ । २ । २६]

अर्थात् [याः] जो [दुर्हार्दः] दुष्ट हृदय वाली [युवतयः] जवान स्त्रियां [च, याः] और जो [इह] यहाँ [जरतीः] बूढ़ी स्त्रियाँ हैं वे [अपि] भी [अस्यै] इस वधू को [वर्चः] तेज--आशीर्वाद [सं, दत्त] देवें [अथ] और [अस्तम्] अपने अपने घर को [नु] शीघ्र [विपरेतन] चली जावें।

अर्थात् वधू को कुसंगति से बचाने की शिक्षा इस ... गई है।

आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै। इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि। ६॥ अथर्व०(१४।२।३१

अर्थात् हे वधू तू [सुमनस्यमाना] प्रसन्न चित्त

होकर [तल्पं]पलङ्ग पर [आरोह] चढ़ और [इह] इस गृहस्थाश्रम में इस (पत्ये) पति के लिये (प्रजां जनय) सन्तान उत्पन्न कर और हे वधू (सुबुधा) सुन्दर ज्ञानवती (इन्द्राणीव) सूर्य की कान्ति के समान तू (उषसः) उषा काल की (अग्रा, ज्योति) पहली किरणों की तरह (प्रति जागरासि) सब कामों में जागती रह ।

नोट--इस मंत्र में वधू को सन्तान उत्पन्न करते हुये समस्त गृह कार्यों में सावधान रहने की शिक्षा दी गई है ।

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ।। ७ ।।

(अथर्व० १४।२ ३ २)

अर्थात् हे (नारि) वधू (इह) इस गृहस्थाश्रम में जैसे (अग्रे) पहले (देवाः) विद्वान्गृहस्थ (पत्नीः) पत्नियों को (न्यपद्यन्त) प्राप्त होते हैं और (तनूभिः) शरीरों से (तन्वः) शरीरों को (समस्पृशन्त) स्पर्श करते हैं वैसे तू (विश्वरूपा) विविध सुन्दर रूपवाली (महित्वा) सत्कार को प्राप्त होते हुये (सूर्येव) सूर्य की कान्ति के समान (पत्या) पति से मिलकर (प्रजावती) सन्तान वाली (संभव) अच्छे प्रकार हो ।

नोट—इस मंत्र में वधू को पहली गृह-देवियों का अनुकरण और पाति-व्रत धर्म का पालन करते हुये सन्तान पैदा करने की शिक्षा दी गई है।

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः। मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ।८।अथर्व० १४ ।२।३७

अर्थात् हे गृहस्थ [पितरौ] स्त्री-पुरुषो! तुम [ऋत्विये] ऋतु समय में (ऋतुगामी होकर) सन्तानों को [संसृजेथाम्] अच्छे प्रकार उत्पन्न करो [माता च पिता] माता और पिता दोनों [रेतसः] वीर्य और रज से गर्भाधान करने हारे [भवाथः] होओ। हे पुरुष [एनाम्, योषाम्] इस अपनी स्त्री को (मर्य इव) प्राप्त होने वाले पति के समान [अधि, रोहय] सन्तानों से बढ़ा और दोनों [इह] इस गृहस्थाश्रम में [प्रजाम्] सन्तान को [कृण्वाथाम्] उत्पन्न करो [पुष्यतम्] पालन पोषण करो और [रयिम्] धन को प्राप्त होओ।

नोट—इस मंत्र में गृहस्थ स्त्री पुरुष को ऋतुगामी होकर सन्तान पैदा करने और उन के पालन पोषण करने का विधान किया गया है।

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो-जीवावुषसो विभातीः ॥६॥ (अथर्व० १४। २। ४३)

अर्थात् हे [जीवौ] गृहस्थ स्त्री पुरुषो! [विभातीः] सुन्दर प्रकाश युक्त [उषसः] उषा की तरह [स्योनात्] सुख से [योनेः] घर में [अधि, बुध्यमानौ] गृहस्थ कार्य्य को अच्छे प्रकार जानने हारे [हसामुदौ] हास्य आनन्द युक्त [महसा] बड़े प्रेम से [मोदमानौ] अत्यन्त प्रसन्न [सुगः] सद् व्यवहार में चलने वाले [सुपुत्रौ] उत्तम पुत्र वाले [सुगृहौ] अच्छे गृह वाले होकर [तराथः] गृहस्थ को पार करो।

नोट—इस मंत्र में गृहस्थ स्त्री पुरुषों को गृह कार्य करते हुये हँसने, खेलने और खुश रहने का विधान किया गया है।

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती। प्रजेयैनौस्वस्तकौ ? विश्वमायुर्व्यु श्नुताम्॥१०॥ (अथर्व० १४।२।६४)

अर्थात् हे [इन्द्र] राजन् [इह] इस संसार में [इमौ] इन गृहस्थ स्त्री पुरुषों को [संनुद] प्रसिद्धि के साथ-Publicity प्रेरणा करें कि ये [दम्पति] पुरुष - स्त्री [चक्रवाकेव] चकवा चकवी के समान [प्रजया] सन्तान से [स्वस्तकौ] सुख युक्त होके [विश्वम् आयुः व्यश्नुताम्] पूर्णायु को प्राप्त होवें।

नोट—इस मंत्र में शिक्षा दी गई है कि राजा का

भी कर्तव्य है कि वह गृहस्थों को अपना कर्तव्य पालन की शिक्षा व्याख्यानों अथवा राज-नियमों द्वारा दिलाया करे।

जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः। अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥११॥ (अथर्व० १४। २। ७२)

अर्थात् हे ईश्वर [सुदानवः] उत्तम दानी [अग्रवः] स्त्री पुरुष [जनयन्ति] सन्तान पैदा करते और [पुत्रीयन्ति] पुत्र की कामना करते हैं तदनुसार [नौ] हम भी [अरिष्टासु] बल और प्राण के नाशक न होकर [बृहते] बड़े [वाजसातये] अन्नादि के दान के लिये [सचेवहि] कटिबद्ध होवें।

नोट--इस मंत्र में जिस प्रकार उत्तम दान आदि गुण रखने वाली सन्तान से युक्त होते हैं वैसे ही अपने होने की ईश्वर से प्रार्थना की गई है।

प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय। गृहान् गच्छ गृहपती यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥१२॥

(अथर्व० १४। २। ७५)

अर्थात् हे पत्नी! तू [शत शारदाय] सौ वर्ष तक [दीर्घायुत्वाय] दीर्घ काल जीने के लिये [सुबुधा] उत्तम बुद्धियुक्त [बुध्यमाना] सज्ञान होकर [गृहान्, गच्छ]

मेरे घरों को प्राप्त हो और [गृहपत्नी यथा] गृहपत्नी की स्थिति में [ते] तेरा [दीर्घाम्, आयुः, आपः] दीर्घ काल पर्यन्त जीवन हो [प्रबुध्यस्व] प्रबुद्ध-सावधान हो [सविता, कृणोतु] जगदुत्पादक ईश्वर अपनी कृपा करे।

नोट—इस मंत्र में वधू को शिक्षा दी गई है कि उत्तम बुद्धि और उत्तम ज्ञान युक्त हो कर पति के गृह में गृहपत्नी की स्थिति में दीर्घ-कालीन जीवन प्राप्त करे।

उपर्युक्त बारह वेद मंत्रों में वर और वधू को शिक्षा दी गई है कि किस प्रकार का आचरण करना चाहिये और किस प्रकार की मनोवृत्ति रखनी चाहिये, जिससे गृहस्थाश्रम सुखप्रद आश्रम बन सके।

दूसरा सर्ग

गृहस्थाश्रम में पारस्परिक मेल रखने की शिक्षा

गृहस्थ एक छोटे राज्य के सदृश होता है। जिस प्रकार राज्यान्तर्गत प्रजा में मेल मिलाप रहने से राज्य उन्नत हुआ करता है और उसकी स्थिति भी दृढ़ रहती है उसी प्रकार प्रत्येक गृहस्थ का पारिवारिक जीवन भी मेल मिलाप

का जीवन होना चाहिये, तभी गृहस्थाश्रम से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति सुखी और शान्त रह सकता है। गृहस्थ एक छप्पर की तरह है। सभी के मिलकर उठाने से वह उठ सकता है, यदि कुछ ऊपर उठावें और कुछ नीचे खींचे तो कभी भी छप्पर यथेष्ट स्थान पर नहीं पहुंच सकता। इसी प्रकार गृहस्थ की गाड़ी भी मेल मिलाप से ही चल सकती है। यह मेल मिलाप कैसे रहे, यह बात, आगे दिये हुये कुछ एक वेद-मन्त्रों से मालूम होगी। उसी के अनुकूल आचरण करना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है। वे वेद मंत्र ये हैंः—

संहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥ (अथर्व० ३।३०।१)

अर्थात् हे गृहस्थो! [वः] तुम्हारे लिये [सहृदयम्] सहृदयता [सामनस्यं] मन की समता और [अविद्वेषम्] वैर विरोधादि रहित व्यवहार [कृणोमि] नियत करता हूं [अघ्न्या, वत्स, जातं, इव] जैसे गाय नवजात बछड़े को प्यार करती है, इसी प्रकार तुम [अन्यःअन्यम्] एक दूसरे से [अभि हर्यत] प्रेमपूर्वक व्यवहार करो।

नोट—किसी भी नवजात बछड़े के पास यदि कोई चला जावे तो गाय उसे मारने को दौड़ती है। भाव इसका

स्पष्ट है कि वह (गाय) उस बच्चे की प्राण-पन से रक्षा करती है। इसी सुन्दर उपमा को देते हुए वेद ने शिक्षा दी है कि परस्पर सब इसी प्रकार का व्यवहार करते हुए एक दूसरे की रक्षा करें और एक दूसरे से प्रेम रक्खें।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवान् ॥२॥ (अथर्व० ३।३१।२)

अर्थात् [पुत्रः पितुः अनुव्रतः] पुत्र पिता के अनुकूल आचरण करने वाला और [मात्रा] माता के साथ [संमनाः भवतु] प्रीतियुक्त मन वाला होवे [जाया] स्त्री [पत्ये] पति के साथ [मधुमतीम्] माधुर्ययुक्त और [शान्तिवान्] शान्त होकर [वाचम्] वाणी [वदतु] बोले।

नोट—मंत्र में शिक्षा दी गई है कि पुत्र माता और पिता के अनुकूल आचरण करे और स्त्री पति के साथ मधुर व्यवहार करे।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥ (अथर्व० ३।३१।३)

अर्थात्—[मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्] भाई भाई के साथ द्वेष न करे [उत] और [स्वसा स्वसारम्] बहन बहनसे [मा] द्वेष न करे [सम्यंचः] सम्यक् प्रेमादि गुण से युक्त [सव्रताः] समान गुण कर्म स्वभाव वाले [भूत्वा]

होकर [भद्रया वाचम् वदत] मंगलकारक रीति से एक दूसरे के साथ बात करें ।

नोट— इस मंत्र में भाई भाई और बहन बहन को एक दूसरे के साथ प्रेमयुक्त व्यवहार करने और मीठी वाणी बोलने की शिक्षा दी गई है ॥

४—येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥४॥ (अथर्व० ३।३०।४)

अर्थात् [येन] जिस प्रकार के व्यवहार से [देवाः] विद्वान् [न वियन्ति] पृथक् भाव वाले नहीं होते [च] और [नो, विद्विषते] न परस्पर द्वेष करते [तत्, वः] वही व्यवहार तुम्हारे [गृहे] घर के लिये [कृण्मः] निश्चित करता हूं [पुरुषेभ्यः संज्ञानम् ब्रह्म] पुरुषों—गृहस्थों को अच्छे प्रकार सावधान किया जाता है कि मेल से वृद्धि करें ।

नोट—मंत्र में शिक्षा दी गई है कि विद्वानों का अनुकरण करते हुये गृहस्थ नर नारी परस्पर द्वेष न करें और न अपनी डफली और अपने अपने राग वाले बनें ।

५—ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।

अन्या अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥५॥
(अथर्व० ३.३०।५)

अर्थात् हे गृहस्थो ! तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादि गुण-युक्त (चित्तिनः) सज्ञान विद्वान् (सधुराः) धुरन्धर होकर (चरन्तः) विचरते और [संराधयन्तः] परस्पर मिल, धन धान्य राज्य, समृद्धि को प्राप्त होते हुये [मा, वियौष्ट] पृथक् पृथक् [विरोधी] भाव मत रक्खो [अन्यः अन्यस्मै] एक दूसरे के लिये [वल्गु] सत्य मधुरभाषा [वदन्तः] बोलते हुये एक दूसरे को [एत] प्राप्त होवो और [सध्रीचीनान्] समान लाभालाभ से एक दूसरे का सहायक [संमनसः] एक जैसे विचार वाला [वः] तुमको [कृणोमि] करता हूँ ।

नोट—इस मन्त्र में गृहस्थों को सामाजिकोन्नति करने की शिक्षा दी गई है। अर्थात् प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ अन्यों के लाभ के साथ साथ ही अपना लाभ करे। और सब मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करें और एक दूसरे से मधुर भाषण करें और एक जैसे विचार रखते हुये एक दूसरे के सहायक बनें।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।

सम्यञ्चो ऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥६॥ (अथर्व० ३।३१।६)

अर्थात् हे मनुष्यो ! [वः] तुम्हारा [प्रपा जलाशय--जल पीने का स्थान [समानी] एक सा हो। तुम्हारा [अन्न-भागः] खान पान [सह] साथ हुआ करे [वः] तुम्हें [समाने] समान [योक्त्रे] जुये के [सह] साथ [युनज्मि] नियुक्त करता हूँ। [आराःअभितःनाभिम्,इव] जैसे धुरी के चारों ओर आरे, इसी प्रकार सब मिलकर [सम्यञ्चः] सम्यक् रीति से [अग्निं सपर्यत] अग्नि को सेवन करो अर्थात् यज्ञादि व्यवहार करो।

नोट—इस मंत्र में भी सामाजिकोन्नति का उपदेश किया गया है समस्त जाति का जल और भोजन साथ होना चाहिये अर्थात एक दूसरे से किसी प्रकार का परहेज़ और छूतछात नहीं होनी चाहिये। सब मिलकर यज्ञ और शिल्पकला आदि के व्यवहार किया करें।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्रुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् देवा इवा मृतं रक्षमाणः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥७॥

(अथर्व० ३।३१।७)

अर्थात् हे मनुष्यो ! [वः] तुमको [सध्रीचीनान्] सह वर्तमान—एक दूसरे का सहायक [संमनसः] एक जैसे विचार वाला [एकश्रुष्टीन्] एक ही कृत्यमें शीघ्र

प्रवृत्त होने वाला [सर्वान्] सबको [संवेनन] एक दूसरे के उपकार में नियुक्त [कृणोमि] करता हूं [देवाः, इव] विद्वानों के समान [अमृतम्] अमृत की [रक्षमाणः] रक्षा करते हुए [सौमनसः] मन का शुद्ध भाव [अस्तु] हो।

नोट—यह मंत्र भी सामाजिकोन्नति के लिये है। शिक्षा यह दी गई है कि सब मनुष्य एक विचार रखते हुए एक दूसरे के सहायक, मिलकर एक कृत्य में लग जाने वाले, प्रातः और सायं शुद्धभाव रखते हुए अमृत—लोक और परलोक के सुख की रक्षा करें।

तीसरा सर्ग

गृहस्थ जीवन सुधार के साधन

यह बतलाने के बाद कि, गृहस्थ से संबन्धित नर नारियों का पारस्परिक व्यवहार कैसा होना चाहिये, अब यह बतलाया जाता है कि जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिये किन साधनों को काम में लाना चाहिये।

जब तक मनुष्य अपने जीवन को अच्छा नहीं बना लेता तब तक तो उसका न व्यक्तिगत सुधार ही संभव है और न सामाजिक ही। दोनों सुधारों के लिये अच्छे चरित्र बना लेने की ज़रूरत है। मनुष्य रेलगाड़ी के एक अंजन के सदृश है। जिस तरह अंजन में स्टीम (जल-

वाष्प) भर देने से अंजन शक्तिशाली हो जाता है, उससे जिस प्रकार का चाहें काम ले सकते हैं—वह रेलगाड़ियों को भी खींच सकता है, तेल भी निकाल सकता है, चूना भी पीस सकता है, मशीनें भी चला सकता है—इसी प्रकार मनुष्य रूपी अंजन में चरित्र रूपी स्टीम भरने से वह भी शक्तिशाली बनकर लोक और परलोक के सभी काम कर सकता है। इसलिये अब उन्हीं साधनों का उल्लेख किया जाता है—

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्ते ऋते श्रिता ॥ १ ॥

(अथर्व० १२।५।१)

अर्थात् [श्रमेण] परिश्रम और [तपसा] तप गरमी-सरदी का सहना तथा कठोर कार्यों के करने आदि से [सृष्टा] संयुक्त और [ब्रह्मणा] ज्ञानयुक्त [वित्त] धन के प्रयत्न में और [ऋते] पक्षपात-रहित न्याय रूप धर्म में [श्रिता] चलने द्वारा बना रहे।

नोट—मनुष्य के अन्दर निम्न बातें आनी चाहिएं—

(१) परिश्रमशीलता (२) तपस्या का जीवन
(३) ज्ञान (४) धन के लिये प्रयत्न

(५) पक्षपातरहित न्याय रूपी धर्म और

(६) इन सब में उसकी तत्परता।

इन्हीं गुणों से मनुष्यों को युक्त होने की शिक्षा इस मंत्र में दी गई है।

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥ २ ॥

(अथर्व० १२।५।२)

अर्थात् [सत्येन] मन, वाणी और कर्म- इन तीनों में सत्य से [आवृता] युक्त [श्रिया] श्री से [प्रावृता] युक्त और [यशसा] कीर्ति से [परिवृता] संयुक्त मनुष्य को होना चाहिये।

नोट—इस मंत्र में सत्य, श्री [ऐश्वर्य] और यश इन तीन गुणों को धारण करने का विधान मनुष्य के लिये किया गया है।

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ३ ॥ (अथर्व० १२।५।३)

अर्थात्—[स्वधया] अपने अन्नादि से परि- हिता] औरों के हितों में लगा हुआ [श्रद्धया] श्रद्धा— [सत्य के धारण करने]—में [पर्यूढा] तत्पर [दीक्षया] ब्रह्मचर्यादि व्रत धारण से [गुप्ता] सुरक्षित [यज्ञे] यज्ञ में [प्रतिष्ठित] प्रतिष्ठित होने से [निधनम्, लोकः]

मृत्यु लोक को प्राप्त करे अर्थात् मृत्यु पर विजयी बने ।

नोट—इस मंत्र में दान श्रद्धा , दीक्षा और यज्ञ के द्वारा मृत्यु को विजय करने की शिक्षा दी गई है ।

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलञ्च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥४॥ (अथर्व० १२ । ५ । ७)

अर्थात् [ओजः] पराक्रम [च] और [तेजः] तेजस्विता [च] और [सहः] सहनशीलता [च] और [बलम्] बल [वाक् च] और वाणी [इन्द्रियम् च] और इन्द्रिय [श्रीः च] और ऐश्वर्य [धर्मः, च] और धर्म मनुष्य के अन्दर आने चाहिये ।

नोट—इस मंत्र में मनुष्य को अपने में ओज, तेज, सहनशीलता, वाणी और इन्द्रियों में बल, ऐश्वर्य और धर्म के लाने की शिक्षा दी गई है ।

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च॥५॥ (अथर्व० १२।२।८)

अर्थात् हे मनुष्यो ! [ब्रह्म च]उत्तम ज्ञान और [क्षत्रं च] श्रेष्ठ बल और [राष्ट्रं च]राष्ट्र और [विशः च] उत्तम प्रजा और [त्विषिश्च] तेज और कान्ति और [यशःच] यशः [वर्चःच] वर्चस्–वीर्य और [द्रविणं च]

धन [तुम्हारे अन्दर होने चाहियें] ॥

नोट—मंत्र में शिक्षा दी गई है कि श्रेष्ठ मनुष्य बनने के लिये ज्ञान, बल, उत्तम राष्ट्र, उत्तम प्रजा, तेज, यश, वर्चस और धन की अपेक्षा होती है।

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च
चक्षुश्च श्रोत्रञ्च ॥६॥(अथर्व० १२।५।६)
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋत च सत्यं चेष्ट च
पूर्त च प्रजा च पशवश्च ॥७।(अथर्व० १२ ५।१०)

अर्थात्—उपर्युक्त पहले मंत्र के सिलसिले में इन द्वारा शिक्षा दी गई है कि श्रेष्ठ मनुष्य बनने के लिये उन ज्ञान और बलादि के सिवा इन की भी आवश्यकता होती है:—

(आयुः, च) पूर्णायु (रूपं, च) उत्तम रूप (नाम,च)उत्तम नाम (कीर्तिःच) कीर्ति (प्राणश्चापानश्च) बल युक्त प्राण और अपान (चक्षुश्च श्रोत्रं च) नियम मे रहने वाले चक्षु, श्रोत्र (आदि इन्द्रियां) ॥६॥

[पयश्च] दूध [रसश्च] जल तथा मधु आदि रस [अन्नं च] शुद्ध अन्न [अन्नाद्यं च] तथा अन्य खाने योग्य पदार्थ [ऋतं च]तीनों काल में एक सी उपयोगिता रखने वाला सत्य [Absolute truth][सत्यं च] काल विशेष से संबंध रखने वाला सत्य- सच्चे आख्यान

इतिहास आदि [Relatine truth] [इष्टं, च] उत्तम यज्ञादि श्रौतकर्म [पूर्त्तं च] धर्मशाला कुवां बनाना आदि स्मार्त्त कर्म [प्रजा च] उत्तम सन्तान [पशवश्च] और उपयोगी पशु गाय बकरी आदि ॥७॥

नोट—४,५,६ तथा ७वें मंत्र में मनुष्य किस प्रकार उत्तम रीति से गृहस्थादि आश्रमों के कर्तव्यों का पालन कर सकता है, इसकी पूर्ति के लिये ओज तेज सहन-शीलता आदि अनेक गुणों का वर्णन किया है। मनुष्य अपने प्रयत्न और उत्तम समाज तथा राष्ट्र के उपयोगी प्रभावों से श्रेष्ठ मनुष्य बना करता है। इन मन्त्रों में इसी लिये दोनों प्रकार की बातें वर्णन की गई हैं। मनुष्य को अपने प्रयत्न से ओज आदि गुणों को प्राप्त करना चाहिये और उत्तम राष्ट्रादि के प्रभावों को अपने भीतर स्थान देना चाहिये, जिससे दोनों प्रकार के प्रयत्न मिल कर उसे अधिक से-अधिक अच्छा उपयोगी आदमी बना देवें।

चौथा सर्ग

गृहस्थ से संबधित कुछ और उपयोगी बातें

गृहस्थाश्रम कई अदूरदर्शी पुरुष-स्त्री द्वारा केवल भोग का आश्रम कहा जाता है। यह उनकी ऐसी भूल है जिससे ऐसे लोगों

ने, गृहस्थ जैसे उत्तम और श्रेष्ठ आश्रम को नरक बना रक्खा है। अस्ल में गृहस्थ भी वैसा ही तपस्या और पुरुषार्थ का आश्रम है जैसे अन्य आश्रम। अन्तर केवल इतना है कि अन्य आश्रमों में सुख और शान्ति की सामग्री विद्याध्ययन, नई नई बातों की जानकारी, नई नई खोजें, आत्म-चिन्तन, आत्मानुभव और ईश्वरोपासना आदि संग्रह की जाती हैं। परन्तु गृहस्थ में इसके सिवा पुरुष-स्त्री का मेल मिलाप भी एक और साधन गृहस्थों को प्राप्त होता है जिस से भी वे सुखोपलब्धि करते हैं। इसलिये गृहस्थों को सदैव पुरुषार्थमय जीवन रखना चाहिये। इसी लिये कुछ एक अन्य बातें भी, जिनसे इसी उद्देश्य की पूर्ति होगी, वेद-मन्त्रों के आधार से, यहां अंकित की जाती हैं:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ १ ॥ (यजु० ४०। २)

अर्थात्—[इह] इस जगत् में [कर्माणि] कर्मों को [कुर्व्वन् एव] करते हुए ही [शतं समाः] १०० वर्ष [जिजीविषेत्] जीने की इच्छा करे [एवं त्वयि, नरे कर्म न लिप्यते] इस प्रकार कि, तुझ नर में कर्म

लिप्त न हो (इतः, अन्यथा नास्ति इस से भिन्न (और कोई मार्ग पूर्णायु प्राप्त करने का) नहीं है ।

नोट—अन्य आश्रम वालों की सदृश, गृहस्थ को भी आयु की ज़रूरत है। बिना समय के वह कर ही क्या सक्ता है ? और आयु प्राप्त करने का, एक मात्र साधन पुरुषार्थमय जीवन है। जैसा कि असंदिग्ध रीति से इस वेद मंत्र में कहा गया है। इस लिये प्रत्येक गृहस्थ नर नारी के लिये आवश्यकता है कि वे अपने समय का, गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए ऐसा कार्य-क्रम बनावें, जिससे वे कर्मण्य और पुरुषार्थी बनें, उन की आयु का एक क्षण भी व्यर्थ न नष्ट होने पावे। तभी वे पूर्णायु को प्राप्त कर सकेंगे और तभी वे स्वस्थ और रोग रहित भी रह सकेंगे—आलस्यी बनना मानो मौत को निमन्त्रण देना है।

भूर्भुवः स्वः । सुप्रजाः प्रजाभिः स्याँ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः । नर्य प्रजां मे पाहि शँस्य पशून मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥८॥
(यजुर्वेद० ३।२७)

अर्थात् हे [भूर्भुवः स्वः] सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर [प्रजाभिः] प्रजाओं के साथ [सुप्रजाः स्याम्] उत्तम सन्तान वाला होऊं [वीरैः] वीरों के

साथ में [सुवीरैः] उत्तम वीरों वाला और [पोषैः] उत्तम पुष्टि कारक सुव्यवहारों से मैं [सुपोषः] उत्तम पुष्टि युक्त होऊं [नय] हे वीर स्वामिन्। [मे, प्रजाम पाहि] मेरी प्रजा की रक्षा करें। हे [शंस्य] स्तुति योग स्वामिन। [मे, पशून् पाहि] मेरे पशुओं की रक्षा करें। [अथर्व] हे अहिंसक दयालु स्वामिन्! [मे पितुम् पाहि] मेरे रक्षक की भी रक्षा करें।

नोट—मंत्र में शिक्षा दी गई है कि प्रत्येक गृहस्थ को अपनी सन्तान को उत्तम और शूरवीर बनाना चाहिये और अपने को पुष्ट रखते हुए अपनी सन्तान, अपने पशु, अपने पिता आदि रक्षकों की भी रक्षा करनी चाहिये।

गृहा मा विभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि।
ऊर्जं बिभ्रतः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानाः॥३॥
(यजुर्वेद ३।४।१)

अर्थात् हे [गृहाः] गृहस्थो! [माविभीत] मत डरो [मावेपध्वम] मत कंपायमान हो [ऊर्जम] बल और पराक्रम को [बिभ्रतः] धारण करो [गृहान्] तुम गृहस्थों को हम [उपदेशक] [एमसि] प्राप्त होते रहें और [वः] तुम लोगों में [सुमनाः] उत्तम ज्ञान] सुमेधा] उत्तम

बुद्धि युक्त [मनसा] मानसिक ज्ञान से [मोदमानः] हर्ष उत्साहयुक्त [ऊर्जम] बल को [विभ्रत] धारण करता हुआ सुखों का मैं [उपदेशक] [एमि] प्राप्त होऊँ ।

नोट—गृहस्थों के मध्य में विद्वान उपदेशक [पुरोहित] के रहने का इस मंत्र में विधान किया गया है। वह उपदेशक गृहस्थों को शिक्षा देता है कि निर्भीकता के साथ बल प्राप्त करें। उस उपदेशक का कैसा होना चाहिये इसका भी संकेत मंत्र में किया गया है। वह उत्तम ज्ञान, उत्तम बुद्धि वाला, बल शाली और हँस मुख होना चाहिये। इस प्रकार उपदेशकों द्वारा गृहस्थों को शिक्षा मिलते रहने से वे अपने कर्त्तव्य का भली भाँति पालन कर सक्ते हैं।

येषा मध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः । गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तुः जानतः ॥४॥ (यजुर्वेद० ३ । ४२)

अर्थात्—[प्रवसन] प्रवास करता हुआ अतिथि [येषाम्] जिन गृहस्थों का [अध्यति] स्मरण करता वा [येषु] जिनमें [बहु] बहुत अधिक [सौमनसः] प्रीतिभाव करता है, उन [गृहान्] गृहस्थों का हम अतिथि लोग [उपह्वयामहे] सदैव प्रशंसा करते हैं और [ते] वे गृहस्थ [जानतः] ज्ञान रखते हुए [नः] हम अतिथियों को [जानन्तु]

यथावत जानें।

नोट—मंत्र में गृहस्थ और अतिथियों का कर्त्तव्य वर्णन किया गया है। गृहस्थ का अतिथियों के संबन्ध में उन का आतिथ्य करना कर्त्तव्य है और अतिथियों का कर्त्तव्य है कि वे गृहस्थों के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करते हुए उनके शुभ चिन्तक रहें।

उपहूताऽइह गावऽउपहूताऽअजावयः अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः। क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥४२॥
(यजु० ३।४३)

अर्थात् [इह] इस संसार में [वः] तुम [अतिथियों] के [शान्त्यै] सुख के लिये और [नः] हम [गृहस्थ,] लोगों की [क्षेमाय] रक्षा के लिये [गृहेषु] उचित स्थानों में [गावः] दूध देने वाली गाय आदि [उपहूता] समीप प्राप्त हों और [अजावयः] भेड़ बकरी आदि पशु भी [उपहूताः] समीप प्राप्त हों [अथो] इसके अनन्तर [अन्नस्य, कीलालः] अन्नादि पदार्थों का समूह भी [उपहूताः] समीप ही प्राप्त हो। मैं गृहस्थ इन की रक्षा करता हुआ [शंयोः शंयोः] सुख और शांन्ति के साधनों से [शिवम्] कल्याण और [शग्मम] सुखों को [प्रपद्ये] प्राप्त होऊं।

नोट—गृहस्थ और अतिथि दोनों के कल्याण के लिये मंत्र में आदेश दिया गया है कि गृहस्थ लोग अन्य प्रकार से उपयोगी दूध देने वाले पशु रक्खा करें। और अन्न का भी प्रयाप्त कोष संग्रह किया करें।

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥६॥
(ऋ० वेद २।३५।४)

अर्थात् जो [अस्मेराः] हम को प्रेरणा देने वाली [मर्मृज्यमानाः] ब्रह्मचर्य और विद्या से शुद्ध [युवतयः] युवतियाँ [शिक्वभिः] सेचनाओं से [शुक्रेभिः] शुद्धता से [अपः] पानी [जैसे दूसरे पानी को मिलता है] [तम् युवानम्] उस युवा पुरुष को [परियन्ति] प्राप्त होती हैं और [सः] वह युवा पुरुष [अस्मै] हमारे मध्य में [रेवत] अत्यन्त धीयुक्त कर्म को और [दीदाय] अपने तुल्य युवति स्त्री को प्राप्त होवे। जैसे [अप्सु] अन्तरिक्ष में [घृतनिर्णिक्] जल को शोधन करने हारा [अनिध्मः] स्वयं प्रकाशित विद्युत् अग्नि [जल को प्राप्त होता है]

नोट—गृहस्थ में वर और वधू का सम्मेलन प्रेम और पवित्रता की वृद्धि के लिये होता है।

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्। आस्य अवस्यादथ आ च घोषात्पुरू सहस्रा परिवर्तयाते ॥७॥(ऋ०५।३७।३

अर्थात् [य] जो ब्रह्मचारी [ईम्] सब प्रकार की परीक्षा करके [महिषीम्] उत्तम कुल में उत्पन्न हुई [इषिरम] वर को इच्छा करने वाली स्त्री को [एति] प्राप्त होता है, और जो [पतिम् इच्छान्ति] पति की इच्छा करती हुई [इयम, वधूः] वधू पति को [एत] प्राप्त होती है वे [अस्य] इस गृहस्थ के मध्य [आश्रवस्यात्] धन धान्य से युक्त होवे और वे दोनों [रथ] रथ के समान [आघोषात्] अघोष करते हुए [पुरुषार्थ करनेमें उत्साह प्रदर्शन करते हुए] गृहस्थ के भार को [वहाते] उठाते हैं [च] और [पुरु] बहुत [सहस्र] सहस्रों कार्यों को [परिवर्तयाते] सिद्ध करते हैं।

नोट—जो वर और वधू प्रेम के साथ एक दूसरे को प्राप्त होकर गृहस्थाश्रम को रथ के समान चलाते हैं, वे ही अच्छे गृहस्थ बनते और गृहस्थ में अनेक उत्तम कार्यों के करने वाले होते हैं।

ओं आ नः प्रजां जनयतु प्रजापति राजरसाय समनक्त्वर्यमा अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥८॥

(ऋ० १०।८५।४३)

अर्थात् हे वधू ! [अर्यमा] न्यायकारी [प्रजापति परमात्मा] [आजरसाय] जरावस्था तक जीने के लिये [नः] हमारी [प्रजाम्] सन्तान को [आजनयतु] उत्पन्न करे और [समनक्तु] उत्तम सुख देवे और [मंगलीः] स्त्रियाँ वह सुख परिवार को [अदुः] देवें और तू हे वधू ! [पतिलोकम्] पति लोक—घर वा सुख को [आविश] प्राप्त हो और [नः, द्विपदे, शम्, चतुष्पदे शम्भव] हमारे परिवार के लिये सुख दात्री और गौ, आदि पशुओं के लिए सुख कर्त्री हो।

नोट—वधू का कर्त्तव्य है कि उत्तम आयुष्मति सन्तान पैदा और पतिव्रत धर्म का पालन करते हुए समस्त परिवार और पशुओं के लिये भी कल्याण कारिणी बने।

ओं अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥६॥

(ऋग्वेद १०।८५।४४)

अर्थात् हे वधू [अपतिघ्नि] पति से विरोध न करने वाली [अघोरचक्षु] प्रियदृष्टि [एधि] हो [शिवा पशुभ्यः] पशुओं के लिये सुखदात्री [सुमनाः] प्रसन्नचित्त [सुवर्चा] तेजस्विता पूर्ण, [वीर

सूः] वीर पुत्रों को उत्पन्न करने वाली और [देवृ-कामा] देवर की कामना वाली होती हुई [स्योना] सुख युक्त हो और [नः, द्विपदे, शम् भव] हमारे परिवार के लिये सुखदात्री हो और [चतुष्पदे, शम्] पशुओं के लिये भी कल्याण कर्त्री हो।

नोट—वधू का कर्त्तव्य है कि पति से मेल रखती हुई वीर पुत्रों को उत्पन्न करे और समस्त परिवार और पशुओं के लिये मंगल कामना युक्त हो।

ओं इमां त्वमिन्द्र, मींढ्वः, सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥१०॥ (ऋग्वेद १०।८५।४५)

अर्थात् हे [मीढ्व] वीर्य सेचक [इन्द्र] ऐश्वर्य युक्त वर ! [त्वम्, इमाम्, सुपुत्राम्, सुभगाम्, कृणु] तू इस [वधू] को उत्तम पुत्र युक्त और [सौभाग्यवान्] कर और [अस्याम्] इस वधू में [दश, पुत्रान्, आधेहि] दस पुत्रों को उत्पन्न कर [एकादशं, पतिम्, कृधि और ग्यारहवाँ पति को समझ।

नोट—इस मंत्र में सन्तान उत्पन्न करने की अवधि अधिक से अधिक दस नियत की गई है।

ओं सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥११ (॥ऋ०१०।८५।४६)

अर्थात् हे वधू ! तू [श्वशुरे] श्वशुर के लिये [सम्राज्ञी, भव] सम्राज्ञी हो [श्वश्र्वाँ, सम्राज्ञी भव] सासु के लिये भी सम्राज्ञी हो [ननान्दरि, सम्राज्ञी-भव] और ननद के लिये भी सम्राज्ञी हो और [देवृषु] देवर के लिये भी [सम्राज्ञी, अधि, भव] सम्राज्ञी हो।

नोट—गृहस्थ एक छोटासा राज्य है जिसका राजा गृहपति और रानी गृहपत्नी होती है। इस मंत्र में नव वधू को श्वशुर, सास, ननद और देवर सब के लिये सम्राज्ञी कहा गया है।

ज्येष्ठ पुत्र के विवाह और एक सन्तान पैदा हो जाने पर पिता और माता को वनस्थी होकर परिवार नये राजा और रानी [वर और वधू] के लिए छोड़ देना चाहिये, यदि न छोड़ें तो उन के आधीन होकर रहना चाहिये। मंत्र का यह भाव बिलकुल स्पष्ट है।

अभिः वर्धतां पयसा अभि राष्ट्रेण वर्धताम्। रय्या सहस्र वर्चसा इमौ स्तामनुपक्षितौ ॥१२॥ (अथर्व वेद० ६।७८।२)

अर्थात् हे वर और वधू ! [पयसा, अधि वर्धताम्] दूध पीकर हृष्ट पुष्ट हो जाओ [अभि राष्ट्रेण, वर्धताम्] राष्ट्र के साथ उन्नति करो [सहस्रा, वर्चसा, रय्या] सहस्र

तेजों के घन से [इमौ] तुम दोनों [अनुरक्तौ, स्ताम् परिपूर्ण हो जाओ।

नोट—मंत्र में वधू को व्यक्तिगत और राष्ट्रगत दोनों प्रकार की उन्नति करने का विधान किया गया है। दोनों को अपने अपने शरीर को हृष्टपुष्ट बनाने और तेजस्वी होते हुये सामाजिक उन्नति करने का विधान किया गया है।

वेदों की उपर्युक्त शिक्षा के साथ ही धर्म शास्त्रानुसार गृहस्थ के कर्त्तव्यों का ज्ञान लेना भी आवश्यक है, इस लिये उसका उल्लेख किया जाता है।

पाचवां सर्ग

धर्मशास्त्रानुसार गृहस्थ का कर्त्तव्य

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया। सुसंस्कृतो
पस्करया व्यये चामुक्त हस्तया ॥२४॥ (मनु०)

अर्थात्—स्त्री को चाहिये कि सदा प्रसन्न रहते हुए चतुरता से गृह कार्यों को और वस्त्र तथा पात्रादि को शुद्ध और साफ रक्खे और किफायत से खर्च किया करे।

नोट—घर की सब वस्तुओं को साफ रखना और घर के खरचों को किफ़ायत के साथ करना गृहपत्नी का धर्म है॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भार्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥१३॥ (मनुस्मृति ३।६०)

अर्थात्–जिस कुल में पत्नी से पति और पति से पत्नी सन्तुष्ट रहती है उसमें निश्चय सदैव कल्याण रहता है।

नोट–गृहस्थ को प्रसन्नता का आश्रम बनाने के लिये यह आवश्यक है कि पति और पत्नी दोनों एक दूसरे से सन्तुष्ट रहें।

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्। अप्रमोदात पुनः पुसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥१४॥ (मनु० ३।६१)

अर्थात् यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रखे और उसे प्रसन्न न कर सके तो पुरुष के प्रसन्न न होने से सन्तान नहीं होती।

नोट—सन्तानोत्पत्ति के लिये वधू का कर्त्तव्य है कि पति को प्रसन्न रखे।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः। स्त्रियाः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥१५॥ (मनु०)

अर्थात्–सन्तानोत्पत्ति के लिये महाभाग्योदय करने वाली, पूजा के योग्य, गृह का प्रकाश करने वाली स्त्रियां हैं, वे लक्ष्मी हैं, उन में और लक्ष्मी में कुछ

भेद नहीं है ।

नोट—स्त्री और लक्ष्मी में, मनु के अनुसार, कुछ अन्तर नहीं है इसलिये वे गृह का प्रकाश, भाग्योदय का कारण और पूजा के योग्य हैं ।

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् । प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥१६॥ [मनु०]

अर्थात् सन्तान की उत्पत्ति, उत्पन्नसन्तान का पालन और नित्यप्रति जो गृहाश्रम का कार्य्य होता है उसका प्रबन्ध करने वाली प्रत्यक्ष स्त्री है ।

नोट—सन्तान के उत्पन्न, पालन पोषणादि समस्त गृह कार्य्यों का प्रबन्ध स्त्री ही किया करती है ।

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा । दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥१७॥ [मनुस्मृति]

अर्थात्—सन्तानोत्पत्ति धर्मकार्य्य, उत्तम सेवा रति और अपना तथा पितरों [मातापिता आदि] का जितना सुख है वह सब स्त्री ही के अधीन रहता है ।

नोट—समस्त गृह कार्य्य स्त्री ही के अधीन होते हैं।

स्त्रियान्तु रोचमानायां सर्वन्तद्रोचते कुलम् । तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥१८॥ [मनु०३।६२]

अर्थात्—स्त्रियों के प्रसन्न रहने से समस्त परि-

वार प्रसन्न रहता है परन्तु उनके अप्रसन्न और दुःखी होने से सारा कुल शोकातुर होता है।

नोट--गृह में प्रसन्नता लाने का कारण स्त्रियों का घरों में प्रसन्न रखना ही है।

पितृमिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा। पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमाप्सुभिः ॥१६॥ (मनु० ३।५५)

अर्थात्—पिता, भ्राता, पति और देवर सभी, जो घरों में आनन्द देखना चाहते हैं, उनके लिये आवश्यक है कि स्त्रियों का मान, आभूषणादि द्वारा किया करें।

नोट--मनु ने सभी गृहस्थ से संबन्धित पुरुषों का कर्त्तव्य ठहराया है कि स्त्रियोंका आभूषणादि से सत्कार करते हुए उन्हें प्रसन्न रक्खें।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रै तास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥२०॥ [मनु०३।५६]

अर्थात्—जहां स्त्रियों का सत्कार होता है वहां देवता रमते हैं परन्तु जहां इनका सत्कार नहीं होता वहां सब क्रियायें निष्फल होती हैं।

नोट—गृह संबंधी सभी कार्य्य स्त्रियों की प्रसन्नता ही से सफल हुआ करते हैं।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम न शोचन्ति तु यत्रैता

वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥२१॥ (मनु०३।५७)

अर्थात्—जहाँ स्त्रियाँ दुखी रहती हैं वह कुल शीघ्र नष्ट होजाता है परन्तु जहाँ स्त्रियां सुखी रहती हैं वह परिवार सदैव फूलता फलता रहता है।

नोट—परिवार की वृद्धि अवृद्धि स्त्रियों के सुखी और दुखी रहने पर निर्भर होती है।

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रति पूजिताः। तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥२२॥ [मनु०३।५८]

अर्थात्—जिन घरों में स्त्रियों का निरादर होता है और वे शाप देती हैं वे घर कृत्या [विष प्रयोगादि] के से मारे सब ओर से नाश को प्राप्त होते हैं।

नोट—जिन घरों में स्त्रियां निरादृत रहती हैं और उनके हृदय से दुख की आह निकला करती है वे कुल, मानो किसी ने सब को विष देकर मार डाला, इस प्रकार पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं।

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः भूतिकामैर्नरै र्नित्यँ सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ २३॥ (मनु० ३।५६)

अर्थात्—इस लिये ऐश्वर्य्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को [आवश्यक है कि]भूषण, वस्त्र, और भोजनादि से उत्सवों और विवाह आदि के अवसरों पर, इन

(स्त्रियों) का सदा सत्कार किया करें ।

नोट—न केवल रोजमर्रह किन्तु, विवाहादि के विशेष अवसरों और उत्सवों पर भी स्त्रियों का विशेष रीति से सत्कार करना चाहिये ।

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता । सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥२४॥ (मनु० ३ । ७६)

अर्थात्—हे स्त्री पुरुषो ! जो तुम अक्षय मुक्ति सुख और इस संसार के सुख की भी इच्छा रखते हो तो उस गृहाश्रम को जो दुर्बलेन्द्रिय स्त्री पुरुषों के धारण करने के योग्य नहीं है, नित्य प्रयत्न से धारण करो ।

नोट—गृहाश्रम लोक और परलोक दोनों के सुख प्राप्ति का कारण है परन्तु उसे निर्बलेन्द्रिय धारण नहीं कर सकते ।

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः । तेन ते प्रेत्य पशुतः व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥२५॥ (मनु० ३ । १०४)

अर्थात्—गृहस्थ होके पराये घर में जो भोजन की इच्छा करते हैं, वे बुद्धिहीन गृहस्थ (अन्य से प्रतिग्रह रूप पाप करके) जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं ।

नोट—गृहस्थ को दानी और अतिथि यज्ञ कर्ता होना चाहिये न कि अन्य गृहस्थों से दान लेने वाला, और उनके यहाँ से भोजन पाने का इच्छुक। जो इस के विपरीत आचरण करते हैं उनकी इस श्लोक में निन्दा की गई है।

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम। उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीनं हीने समे समम् ॥२६॥ (मनु० ३। १०७)

अर्थात्—जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवे तो उसका आसन, निवास, शय्या, समीप बैठना और गमन समय, उत्तम का उत्तम मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट, सत्कार करना चाहिये।

नोट—अतिथि यज्ञ के समुचित रीति से करने का विधान गृहस्थों के लिये इस श्लोक में किया गया है।

पाषण्डिनो विकर्मस्थान वैडालव्रतिकान शठान्। हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥२७॥ (मनु० ४। १९२)

अर्थात्—पाखंडी, उलटे कर्म करने वाले, बैडाल वृति वाले (हिंसक), शठ, कुतर्की और वकवृति वाले का वाणी मात्र से भी सत्कार नहीं करना चाहिए।

नोट—गृहस्थ का जहाँ आतिथ्य धर्म बतलाया

गया है वहां साथ ही यह चेतावनी भी दी गई है कि जो पाखंडादि वृत्ति वाले हों उनका वाणी मात्र से भी सत्कार नहीं करना चाहिये।

दशसूना समं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः। दशध्वजसमो वेषो दशवेषसमो नृपः ॥८५॥ [मनुस्मृति]

अर्थात्—दशहत्या के समान चक्र कुम्हार ॥ या गाड़ीसे जीविका उपलब्ध करने वाले, दश चक्र के समान ध्वज = धोबी या मद्य बनाने और बेचने वाले, दशध्वज के समान वेष = वेश्या, भांड आदि और दश वेष के समान (अन्यायकारी) राजा होता है (इन के यहाँ का अन्नादि अतिथि कभी ग्रहण न करें)।

नोट—जिनकी जीविका हिंसापरक कर्मों पर निर्भर हो या जो अधर्म और अन्याय से जीविका उपलब्ध करते हों ऐसे लोगों का अन्न न ग्रहण करना चाहिये क्योंकि "यथाऽन्नं तथा मनः" "जैसा खाइये अन्न वैसा बने मन्न" ऐसे अन्न से मन दूषित होता है। सेवन करने योग्य शुद्ध अन्न वही है जो ईमानदारी और परिश्रम से कमाया जाता है।

न लोकवृत्तं वर्तेत प्रतिहेतोः कथंचन। अजिह्माशठां शुद्धां

जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥२६॥ [मनुस्मृति]

अर्थात्—गृहस्थ जीविका के लिये कभी शास्त्र विरुद्ध लोकाचार का व्यवहार न करे किन्तु जिसमें किसी प्रकार की कुटिलता और शठता न हो ऐसी शुद्ध धर्मोक्त जीविका उपलब्ध करे।

नोट—गृहस्थों को शुद्ध धर्मोक्त जीविका ही करनी चाहिये इससे विपरीत नहीं।

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा। शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥३०॥ [मनु०]

अर्थात्—सत्य, धर्म, आर्य्य-श्रेष्ठ पुरुषों के व्यवहार और पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें और बाहु तथा वाणी आदि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों को उत्तम शिक्षा दिया करें।

नोट—गृहस्थों को असंयमित जीवन छोड़कर सत्य धर्म युक्त आर्य्य जीवन व्यतीत करना चाहिये और अपनी सन्तान तथा शिष्यों को भी ऐसी ही उत्तम शिक्षा देनी चाहिये।

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोक विक्रुष्टमेव च ॥३१॥ [मनु०]

अर्थात्—यदि बहुत सा धन और कामना अधर्म

से सिद्ध होती हो तो भी उसे छोड़ दे, परन्तु धर्म से यदि तकलीफ उठानी पड़े और लोक को भी विपरीतता होती हो तो भी उसे न छोड़ें।

नोट—अधर्म से अर्थ और कामना की सिद्धि भी होती हो तो भी उसे छोड़ ही देना चाहिये परन्तु कष्ट भोगने और लोक का विरोध होने पर भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौच परं स्मृतम्। योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः ॥३२॥ [मनु० ५।१०६]

अर्थात्—इन सब शौचों में अर्थशौच (अन्याय से दूसरे का धन न लेने की इच्छा रूप शौच) सब से श्रेष्ठ कहा है यदि अर्थ शौच नहीं तो मृत्तिकादि से कुछ शुद्धि नहीं होती। जो अर्थ मे शुद्धि है वही शुद्धि है।

नोट—अर्थ—कमाए हुए धन की पवित्रता ही सर्व श्रेष्ठ है। जल और मिट्टी आदि से की हुई शुद्धि गौण है।

क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः। प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥३३॥[मनु० ५।१०७]

अर्थात्—क्षमा से विद्वान् शुद्ध होते हैं। जो यज्ञादि क्रिया नहीं कर सकते वे दान से, गुप्त पाप वाले

जप से और उत्तम वेद के जानने वाले तप से शुद्ध होते हैं।

नोट—क्षमा, दान, जप और तप ये पृथक् पृथक् श्रेणी के मनुष्यों की शुद्धि के कारण होते हैं।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥३४॥ (मनु० ५।१०६)

अर्थात् जल से शरीर शुद्ध होते हैं, मन सत्याचरण से, सूक्ष्म शरीर युक्त जीवात्मा विद्या और तप से शुद्ध होता है और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

नोट—श्लोक में जिस की शुद्धता का जो कारण बतलाया गया है उसके विपरीत आचरण करने से किसी की भी शुद्धि नहीं होगी।

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत। त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥३५॥[मनु०]

अर्थात् गृहस्थ धर्म [कर्त्तव्य] का निर्णय, (१) ऋग्वेद (२) यजुर्वेद [३] सामवेद [४] अथर्ववेद [५] हैतुक=तर्कवेत्ता [६] निरुक्त के जानने वाले [७] धर्माध्यापक [८] ब्रह्मचारी [९] स्नातक और [१०] वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अति न्यूनता करे, तो तीन वेदवित् विद्वानों की सभा से करावें और जो निर्णय हो उस

के विपरीत आचरण न करें।

नोट—गृहस्थों को जब किसी कर्त्तव्य के निश्चय करने में बाधा पड़े तब १० या कम से कम ३ विद्वानों की सभा से उसका निर्णय करा के उसके अनुकूल आचरण करें।

समासतःगृहस्थ कर्त्तव्य-विवरण — ऊपर जो वेद तथा धर्मशास्त्रानुसार गृहस्थ-जीवन के कर्त्तव्य वर्णित हैं, एक दृष्टिपात करते ही उनका ज्ञान होजावे इस लिये वे [संक्षिप्त रीति से] यहाँ लिख दिये जाते हैं:—

वेदानुसार [१] पुरुषार्थ से १०० वर्ष की आयु प्राप्त करना।

[२] उत्तम शूर वीर सन्तान पैदा करना।

[३] अपने तथा अतिथियों के लिये दूधके वास्ते उपयोगी पशुओं का संग्रह करना तथा अन्न का भंडार रखना।

[४] गृहस्थ में पति और पत्नी का सम्मेलन प्रेम और पवित्रता की वृद्धि के लिये होता है।

[५] गृहस्थ रथ के समान है उसके चलाने वाले पुरुष स्त्री हैं।

[६] आयुष्मती सन्तान पैदा करना परन्तु १० से अधिक नहीं।

[७] स्त्री को पति और पुरुष को पत्नी व्रत का पालन-कर्ता होना आवश्यक है।

[८] गृहस्थ रूपी राज्य की स्त्री सम्राज्ञी होती है।

[९] स्त्री पुरुष दोनों अपने को हृष्ट पुष्ट बनावें और सामाजिकोन्नति करें।

धर्मशास्त्रानुसार [१०] पत्नी के कर्त्तव्य विशेष रीतिसे ये हैं—

[क] घर की समस्त वस्तुओं को साफ और सुथरा रखना।

[ख] खर्च में किफायत करना।

[ग] पतिव्रत धर्म का पालन करते हुए पुरुष को प्रसन्न रखना।

[घ] सन्तानोत्पत्ति तथा उनका पालन पोषण।

[च] समस्त गृहकार्य्य अपने अपने आधीन समझ कर उन्हें सुचारु रीति से चलाना।

[११] पति के कर्त्तव्य विशेष रीति से ये हैं:—

[क] पत्नी को स्त्री व्रत धर्म का पालन करते हुए प्रसन्न रखना क्यों कि उस की प्रसन्नता से घर में प्रसन्नता रहती है।

[ख] स्त्रियों को भरण-पोषण, आभूषणादि से

सन्तुष्ट रखना।

(ग) उन्हें न केवल घर के अन्दर संतुष्ट रखना किन्तु विवाहादि शुभकर्मों तथा अन्य अच्छे कर्मों उत्सवादि में भी उनका सत्कार वृद्धि करना।

|१२| पति और पत्नी दोनों के सम्मिलित कर्त्तव्य–

(क) दोनों परस्पर संतुष्ट रहें।

(ख) स्त्री को लक्ष्मी, गृह का प्रकाश और भाग्योदय का कारण समझना चाहिये।

(ग) परिवार की वृद्धि, अवृद्धि स्त्रियों के सुखी, दुःखी रहने पर निर्भर होती है, तथा स्त्रियों के दुःखी रहने से कुल का नाश हो जाता है।

|१३| गृहस्थ लोक और परलोक दोनों की उन्नति का कारण है परन्तु जो निर्बलेन्द्रिय हैं उन्हें इस आश्रम में नहीं आना चाहिये।

[१४] गृहस्थ पुरुष स्त्रियों को अपने भोजनादि के लिये अन्य गृहस्थों का मुंह नहीं ताकना चाहिये।

|१५| जो हिंसा करके धन कमाते हों अथवा धर्म और न्याय के लिये विपरीत आचरण करके पैसा पैदा करते हों, ऐसा लोगों का अन्न नहीं खाना चाहिये।

[१६| इन्द्रियों को संयम में रखते हुए शिष्यों को

उत्तम शिक्षा देनी चाहिये।

[१७] कमाये हुए धन की पवित्रता, जल और मिट्टी आदिसे की हुई पवित्रता से, श्रेष्ठ है।

[१८] अपने को पापों और बुराइयों से बचाने के लिये क्षमा, दान, जप और तप का आश्रय लेना चाहिये।

[१६] शरीर को जल से, मनको सत्य से, सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा को विद्या और तप से और बुद्धि को ज्ञान से शुद्ध करना चाहिये।

[२०] सन्देह होने पर कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय दश या कम से कम तीन विद्वानों की परिषद् से कराके उसी के अनुकूल वर्तना चाहिये।

मङ्गल कामना वधू की ओर से

[१]ओं प्रमेपतियानः पन्थाः कल्पतां शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम ।। (गोभि० गृ० सू० प्र० २ का० १ सू० २०)

अर्थात् [वधू कहती है कि] [मे] मेरे [पतियानः] पति का जो मार्ग है वैसा ही मेरा [पंथाः] मार्ग [प्र, कल्पताम्] बने जिससे मैं [शिवा] सुख पाती हुई [अ-रिष्टा] निर्विघ्न होकर [पति, लोकम्] पतिलोक को [गमेयम् प्राप्त होऊँ।

[२] ओं मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥[ऋ० १०।१५९।३]

अर्थात् मेरे पुत्र शत्रु का वध करने वाले हैं, मेरी पुत्री तेजस्विनी है और मैं विजय प्राप्त करने वाली हूँ। पति के लिये मेरे उत्तम भाव हैं।

वधू के लिये मङ्गल कामना

ओं इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नियतु दीर्घमायुः
अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभि विबुध्यतामियम्।
(मंत्र ब्राह्मण १।१।७)

[गार्हपत्य, अग्निः] गृहस्थ सम्बन्धी अग्निहोत्र की अग्नि [इमाम्] इस वधू की [त्रायताम्] रक्षा करे [अस्यै] इस वधू की [प्रजाम्] सन्तान को ईश्वर [दीर्घ आयुः] बड़ी आयु को [नियतु] पहुँचावे और वह वधू [अशून्योपस्था] वन्ध्यात्व दोष से रहित होकर [जीवताम्] जीवित सन्तानों की [माता, अस्तु] माता हो। और [इयम्] यह वधू [पौत्रम्, आनन्दम्] पुत्र सम्बन्धी आनन्द को (अभि, वि, बुध्यताम,) प्राप्त होकर विशेष रूप से जाने।

चौथा अध्याय

पहला सर्ग

गृहस्थ का यज्ञमय जीवन

गृहस्थ का जीवन यज्ञमय होता है। उसे दो प्रकार के यज्ञ नियम से करने पड़ते हैं।

[१] नैत्यिक [दैनिक] [२] नैमित्तिक—उनका संक्षेपतः विवरण यहां दिया जाता है:—

नैत्यिक यज्ञ

नैत्यिक यज्ञ जो प्रत्येक गृहस्थ नर नारी को करने पड़ते हैं, पाँच हैं:—

[१] ब्रह्मयज्ञ—संध्या [२] देवयज्ञ—हवन
[३] पितृ यज्ञ–माता पिता आदि की सेवा।
[४] भूत [बलि वैश्वदेव] यज्ञ [५] अतिथि यज्ञ।

नैमत्यिक यज्ञ

जो समय समय पर, आर्यजाति में मनाये जाने वाले पर्वों पर, किये जाते हैं। ये पर्व प्रत्येक ऋतु से सम्बंधित हैं और वर्षभर में फैले हुए हैं। इन दोनों प्रकार के [नैत्यिक और नैमित्तिक] यज्ञों का करना प्रत्येक गृहस्थ नर नारी का धर्म है। इन से व्यक्तिगत और समाज गत दोनों प्रकार के जीवनों में दृढ़ता आती है इसलिये उनका यहां उल्लेख करना आवश्यक है। पहले नैत्यिक यज्ञों का विवरण और उन के करने की विधि लिखी जाती है।

पहला ब्रह्म यज्ञ

इस ब्रह्म यज्ञ का नाम ही "सन्ध्या" है जो नियम से प्रातः और सायं की जाया करती है।

मुख्य सन्ध्या के प्रारम्भ करने से पहले तीन प्राणायाम करने चाहियें और गायत्री मन्त्र का पाठ करते हुए चोटी में गांठ दे लेनी चाहिये। पहली क्रिया से चित्त की स्थिति संध्या करने के अनुकूल होती है। दूसरी क्रिया, बिखरे हुए बाल सन्ध्या में बाधक न हों,

इसलिये की जाती है।

सन्ध्या का उद्देश्य

आचमन-मन्त्र

(इस मन्त्र को पढ़कर तीन बार आचमन करना चाहिये)

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः। (यजुर्वेद अध्याय ३६ मंत्र १२)

शब्दार्थ—[ओम्] ईश्वर का मुख्य नाम। [शम्] कल्याणकारी। [नः] हम पर। [देवीः] सर्वप्रकाशक (अभिष्टय) इच्छित फल के लिये। [आपः] सर्वव्यापक [भवन्तु] हों। [पीतये] आनन्दप्राप्ति के लिये। [शंयोः] सुख की। [अभिस्रवन्तु] वर्षा करें। [नः] हमपर।

भावार्थ—सर्वप्रकाशक और सर्वव्यापक ईश्वर इच्छित फल और आनन्द प्राप्ति के लिये हमारे लिये कल्याणकारी हों और हम पर सुख की वृष्टि करें।

[२] पहला कर्तव्य—हमको अपने साथ क्या करना चाहिये?

इन्द्रियस्पर्श—मन्त्र

[इस मन्त्र से इन्द्रिय-स्पर्श करना चाहिये]

ओं वाक् वाक्। ओं प्राणः प्राणः। ओं चक्षुः चक्षुः। ओं श्रोत्रम् श्रोत्रम्। ओं नाभिः। ओं हृदयम। ओं कण्ठः। ओं शिरः। ओं बाहुभ्यां यशोबलम्। ओं करतलकरपृष्ठे।

भावार्थ—हे ईश्वर! मेरी वाणी, प्राण, आँख, कान, नाभि, हृदय, कंठ, सिर, बाहु और हाथ के ऊपर और नीचे के भाग [अर्थात्] सभी इन्द्रियाँ बलवान् और यश-वाली हों।

मार्जन-मन्त्र

(इस मन्त्र से प्रत्येक इन्द्रिय पर जलसिञ्चन करना चाहिये)

ओं भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओं स्वः पुनातु कण्ठे। ओं महः पुनातु हृदये। ओ जनः पुनातु नाभ्याम्। ओं तपः पुनीतु पादयोः। ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि। ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र॥

शब्दार्थ—[ओम्] ईश्वर का मुख्य नाम। (भूः) सत्यस्वरूप। [पुनातु] पवित्र करे। [शिरसि] शिर को [भुवः] चित्तस्वरूप [नेत्रयोः] दोनों नेत्रों को। [स्वः] आनन्द स्वरूप। [कण्ठे] कण्ठ को। [महः] महान्। [हृदये] हृदय को। [जनः] उत्पादक। [नाभ्याम्] नाभि को। [तपः] तेजस्वी। [पादयोः] दोनों पैरों को

[सत्यम्]अविनाशी । [पुनः] फिर [खम्] व्यापक [ब्रह्म] महान् ईश्वर [सर्वत्र] समस्त शरीरको ।

भावार्थ—हे ईश्वर ! आप मेरे शिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, पैर, [अर्थात्] समस्त शरीर को पवित्र करें।

प्राणायाम-मन्त्र

(इस मन्त्र से तीन बार प्राणायाम करना चाहिये)

ओं भूः । ओं भुवः । ओं स्वः । ओं महः । ओं जनः । ओं तपः । ओं सत्यम् ॥ (अर्थ पूर्ववत्)

प्राणायाम-विधि—(१) पद्मासन या किसी अन्य आसन से, जिससे सुख-पूर्वक उस समय तक बिना आसन बदले बैठ सको, जितनी देर प्राणायाम करना इष्ट हो, बैठ जाओ। इस प्रकार कि छाती, गला और मस्तक तीनों एक सीध में रहें।

[२] नाक से धीरे धीरे श्वास बाहर निकालो [रेचक] और उसे बाहर ही रोक दो [बाह्यकुम्भक] ।

[३] जब और अधिक देर बिना श्वास लिये न रह सको, तो धीरे धीरे श्वास भीतर खींचो [पूरक] और उसे भीतर ही रोकदो [आभ्यन्तरकुम्भक]

[४] जब और अधिक समय कुम्भक [भीतर

श्वास रोके रखना] न कर सको, तो फिर सं० २ के अनुसार रेचकादि करो ।

[५] प्रत्येक क्रिया के साथ प्राणायाम मन्त्र का मानसिक जप करते जाओ अर्थात् बिना जिह्वा से काम लिये मन में अर्थ का चिन्तन करते रहो ।

अघमर्षण-मन्त्राः

[इन मन्त्रों का अर्थ के साथ चिन्तन करते हुए ईश्वर की महत्ता का अनुभव करो कि किस प्रकार उसने इस महज्जगत को रचा, जिससे हृदय में उसके प्रति श्रद्धा और विश्वास हो, इसी उत्पन्न श्रद्धा से मनुष्य पाप करने से बच जाया करता है ।]

ओम ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥ (ऋग्वेद १०।१९० । १) ओम समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतोवशी ॥२॥ (ऋग्वेद १०।१९०।२) ओम् सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथ्वीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥ ऋग्वेद (१० । १९० । ३)

शब्दार्थ—(ऋतम्)ईश्वरीयज्ञान वेद अर्थात् वह सत्य जो तीनों काल में एक जैसा रहा करता है । (च) और (सत्यम्) प्रकृति (अभीद्धात्) ज्ञानमय

ईश्वर के। [तपसः] अनन्त सामर्थ्य से । [अध्यजायत] प्रकट हुए । [ततः] उसी "सामर्थ्य" से। [रात्रीः] महाप्रलय—महारात्रि [अजायत] उत्पन्न हुई। [समुद्रः] आकाश। [अर्णवः] जलों से भरा हुआ ।

भावार्थ—ज्ञानमय ईश्वर के अनन्त सामर्थ्य से ईश्वरीय नियम (वेद) और प्रकृति प्रकट हुई, उसी सामर्थ्य से महारात्रि (महाप्रलय) उत्पन्न हुई और उसी सामर्थ्य से जलों से भरा हुआ आकाश उत्पन्न हुआ ॥१॥

शब्दार्थ—(अर्णवात्) जल भरे [समुद्रात्] आकाश के पश्चात् [संवत्सर] सन्धिकाल । [अधिअजायत] ऊपर बीत × तब [विश्वस्य] समस्त [मिषतः] चेतन [जीव] मात्र के [वशी] वश में रखने वाले ईश्वर ने [अहोरात्राणि] दिन रातों

नोट—(×) महाप्रलय के बाद महत्तत्व की उत्पत्ति के बाद स्थूल जनकी उत्पत्ति तक जो काल बीतता है वह सूर्य के न होने के कारण दिन मास वर्ष की गणना में नहीं आया करता इसीलिये उसको सन्धिकाल कहते हैं । पहले मन्त्र में आगे संवत्सर का अभिप्राय इसी सन्धिकाल से है ।

को। [विदधत्] रचा।

भावार्थ—जल भरे हुये आकाश की उत्पत्ति के पीछे सन्धिकाल [महाप्रलय के बाद का वह समय जो जगत् की उत्पत्ति के प्रारम्भ से लेकर जब तक सूर्य्य उत्पन्न नहीं होता व्यतीत हुआ करता है] पूरा हुआ करता है उसके बाद समस्त चेतन जगत् के वश में रखने वाले ईश्वर ने दिन रात उत्पन्न किये [क्योंकि][धाता] धारने वाले ईश्वर ने [सूर्य्याचन्द्रमसौ] सूर्य्य और चन्द्र+को [यथा-पूर्वम्] पूर्व कल्प के समान [अकल्पयत] रच लिया था [दिवञ्च] प्रकाशमान और [पृथ्वीम्] प्रकाश रहित लोक [अथो] और [अन्तरिक्षम्] अन्तरिक्ष को [स्वः]भी॥ ३॥

(इस मंत्र के बाद आचमन मंत्र पढ़कर तीन बार आचमन करना चाहिये)

दूसरा कर्तव्य—हमको अन्यों के साथ क्या करना चाहिये ?

+अकल्पयत क्रिया का अर्थ 'रचलिया था' ऐसा करने से अहोरात्र की उत्पत्ति से पहले सूर्य आदि की उत्पत्ति आजाती है क्योंकि बिना सूर्य के दिन रात उत्पन्न नहीं हो सकते इस लिये केवल रचा के स्थान में रचलिया था अर्थ ही सुसंगत जान पड़ता है—

मनसा परिक्रमा-मंत्र

ओं प्राचीदिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

(अथर्ववेद ३ २७।१)

शब्दार्थ—[प्राचीदिक्] पूर्व दिशा में [अग्निः] प्रकाश स्वरूप ईश्वर [अधिपतिः] स्वामी [असितः] अन्धकार से [रक्षिता] रक्षा करने वाला है—[आदित्या] सूर्य की किरणें [इषवः] बाण रूप हैं। [तेभ्यो अधिपतिभ्यो नमः] उस स्वामी के लिए नमस्कार हो [रक्षितृभ्यो नमः] रक्षक के लिए नमस्कार हो [इषुभ्यो नमः] उन बाणों को आदर हो। [एभ्यः नमः अस्तु] इन सब के लिए आदर हो। [योऽस्मान् द्वेष्टि] जो हमसे द्वेष करता है—[यं वयं द्विष्मः] जिससे हम द्वेष करते हैं [तम्] उस [द्वेषभाव] को [वः] आपके [जम्भे दध्मः] विनाशक शक्ति के सम्मुख रखते हैं।

ओं दक्षिणादिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।

(X) जम्भे दध्मः का शब्दार्थ है जम्भे—दाढ़ में दध्मः रखते हैं 'जम्भे दध्मः' दाढ़ में रखना यह संस्कृत का मुहावरा नाश करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

(अथर्व० ३ । २७ । २)

शब्दार्थ —| दक्षिणादिक् | दक्षिण दिशा में |इन्द्र| ऐश्वर्य्यवान् ईश्वर | अधिपतिः | स्वामी है | तिरश्चि | टेढ़े चलने वाले | सर्प आदि | की | राजी | पङ्क्ति से | रक्षिता | रक्षा करता है | पितरः | चन्द्र किरणें + | इषवः | बाण तुल्य हैं । शेष पूर्ववत् ॥

ओ३म् प्रतीची [illegible] तेभ्यो
नमोऽधिपतिभ्यो [illegible] अस्तु ।
योऽस्मान् [illegible] ॥
(अथर्व० ३ । २७ । ३)

शब्दार्थ—| प्रतीचीदिक् | पश्चिम दिशा में |वरुणः| श्रेष्ठ ईश्वर |अधिपतिः| स्वामी है—|पृदाकू| विषैले प्राणियों से | रक्षिता | रक्षा करने वाला है

(+) चन्द्र किरणों से विष का नाश होता है, शीतलता विष की नाशक होती है, इसीलिये जल या पहाड़ों मे रहने वाले सर्प कम विषैले होते हैं ।

[अन्नम्] घृत × [इषवः] बाण के सदृश है—शेष पूर्ववत् ।

ओं उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनि रिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥ (अथर्व० ३।२७।४)

शब्दार्थ—[उदीचीदिक्] उत्तर दिशा में [सोमः] शान्ति रूप ईश्वर [अधिपतिः] स्वामी है—[स्वजो] स्वयं उत्पन्न [कीट मच्छर आदि] से [रक्षिता] रक्षा करता है [अशनिः] बिजली* [इषवः] बाण तुल्य है । शेष पूर्ववत् ।

ओं ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षितावीरुध इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

[अथर्व० । ३ । २७ । ५]

शब्दार्थ—[ध्रुवा दिक्] नीचे की दिशा में [विष्णुः]

× अन्नम् प्रत्येक भोज्य पदार्थ को कहते हैं। यहां अन्न से अभिप्राय घृत से है जो विष-नाशक है ।

* भाद्रपद में बिजली की कड़क से वर्षा में अधिक उत्पन्न हुई मक्खी मच्छर आदि 'स्वयंजातकीट' नष्ट हो जाया करते हैं ।

व्यापक ईश्वर [अधिपतिः] स्वामी है और [कल्माष] काली [ग्रीवा] गर्दन वाले से [रक्षिता] रक्षा करता है [वीरुध] वृक्षलता आदि [इषवः] बाण रूप हैं। शेष पूर्ववत्।

नोट —"कल्माष ग्रीवा' काली गर्दन वाले से अभिप्राय धुएं आदि से उत्पन्न विषैला वायु (Carbonic acid) से है। इस विषैले वायु को वृक्ष आदि अपने भीतर से निकालते हैं, जिससे प्राणियों की रक्षा होती है।

ओं ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

(अथर्व० ॥ ३ । २७ । ६)

शब्दार्थ—[ऊर्ध्वादिक्] ऊपर की दिशा में [बृहस्पतिः] महान् ईश्वर [अधिपतिः] स्वामी और [श्वित्रः] श्वेतकुष्ठादि रोगों से [रक्षिता] रक्षा करने वाला है [वर्षम्] वर्षा का जल [इषवः] बाण तुल्य है। शेष पूर्ववत्।

नोट—(श्वित्रः) यद्यपि श्वेतकुष्ट को कहते हैं

परन्तु यहां सामान्य रोग के अर्थ में है। वर्षा का जल रोग नाशक होता है, इसीलिये अंगरेजी औषधियों में उन्हें तरल करने के लिये वर्षा के जल (Aqua) के मिलाने का विधान है।

छहों मन्त्रों का नीचे एक चित्र दिया जाता है, जिससे समस्त मन्त्रों का स्पष्ट भाव एक जगह ही मालूम हो जायेगा:—

सं	दिशा	अधि-पति	किससे रक्षा करता है	साधन क्या है
१	पूर्व	अग्नि	अधीनः-अधिकार से	सूर्य किरण
२	दक्षिण	इन्द्र	टेढ़े चलने वाले सर्प आदि से	चन्द्र किरण
३	पश्चिम	वरुण	विषैले जंतुओं से	घृत
४	उत्तर	साम	स्वयं उत्पन्न कीटादि से	बिजली
५	नीचे	विष्णु	विषैली गैस से	वृक्षादि
६	ऊपर	बृहस्पति	रोगों से	वर्षा का जल

(४) तीसरा कर्तव्य—मनुष्य को ईश्वर के सम्बन्ध में क्या करना चाहिये ?

उपस्थान-मन्त्र

ओं उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ यजु० ३५ । १४ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—[वयम्] हम [तमसः, परि] अविद्यान्धकार से रहित [स्वः] सुख-स्वरूप [उत्तरम्] प्रलय के पश्चात् भी रहने वाले [देवम्] देव [देवत्रा] दिव्य गुण युक्त [उत्तमम्] सर्वोत्तम [ज्योतिः] ज्योति स्वरूप [सूर्य्यम्] चराचर जगत् के आत्मा को [पश्यन्तः] जानते हुए [उत्तमम्] उच्चभाव से [अगन्म] प्राप्त हों ।

ओं उदुत्यं जातवेदसं देवं वहंति केतवः दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥ यजु० ३३।३१॥२॥

शब्दार्थ—[उ] निश्चय (त्यम्) उस (जातवेदसम्) वेदों के प्रकाशक [सूर्य्यम्] चराचरात्मा [देवम्] ईश्वर को [विश्वाय] सब को [दृशे] दिखलाने के लिये [केतवः] जगत् की रचना आदि गुण-रूप, पताकाएं [उत्, वहन्ति] भली भांति दिखलाती हैं ।

ओं चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥

यजु० ७।४३॥ ३ ॥

शब्दार्थ—[वह ईश्वर] [देवानाम्] उपासकों का [चित्रम्] विचित्र [अनीकम्] बल [मित्रस्य] वायु [वरुणस्य] जल और [अग्नेः] अग्नि का [चक्षुः] प्रकाशक [द्यावा] प्रकाशक और [पृथिवी] अप्रकाशक लोकों तथा [अन्तरिक्षम्] अन्तरिक्ष का धारक, [सूर्यः] प्रकाश स्वरूप [जगतः] जंगम [च] और [तस्थुषः] स्थावर का [आत्मा] आत्मा [उद्-गात्] है।

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

यजु० ३६। २४ ॥४॥

शब्दार्थ—[तत्] वह ब्रह्म [चक्षुः] सर्वद्रष्टा [देवहितम्] उपासकों का हितकारी [शुक्रम्] पवित्र [पुरस्तात्] सृष्टि के पूर्व से [उच्चरत्] वर्तमान है [पश्येम] (उसकी कृपा से) हम देखें [शरदःशतम्] १०० वर्षतक [जीवेम] जीवें [शरदःशतम्] १००

वर्ष तक [शृणुयाम] सुनें [शरदः शतम] १०० वर्ष तक [प्रब्रवाम] बोलें [शरदः शतम्] १०० वर्ष तक [अदीनाः] स्वतन्त्र [स्याम] रहें। [शरदः शतम्] १०० वर्ष तक [च] और [शरदः शतात्] १०० वर्ष से [भूयः] अधिक भी देखें, सुनें आदि।

(यहां फिर आचमन मन्त्र पढ़कर तीन आचमन करने चाहिये)

गायत्री मन्त्र

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात। यजु० ३६।३॥१॥

शब्दार्थ—[ओम्] ईश्वर का मुख्य नाम। [भूः] सत् [भुव] चित् । [स्वः] आनन्द गुण युक्त ईश्वर के [तत्] उस [वरेण्यम्] ग्रहण करने योग्य। [भर्गः] शुद्धस्वरूप को [धीमहि] हम धारण करें [यः] जो [नः] हमारी [धियः] बुद्धियों को [प्रचोदयात्] प्रेरित करें।

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

यजु० १६।४१॥६॥

शब्दार्थ—[नमः] नमस्कार हो उस [शम्भवाय]

आनन्दमय [च] और [मयोभवाय] आनन्द स्वरूप के लिये [नमः] नमस्कार हो उस [शङ्कराय] कल्याण कारी [च] और [मयस्कराय] सुखदाता के लिये [नमः] नमस्कार हो उस [शिवाय] मगंलस्वरूप [च] और [शिवतराय] अत्यन्त आनन्ददाता के लिये।

व्याख्यान

—☰)०(☰—

मनुष्य, कर्त्तव्य की पूर्ति के लिये, कर्त्तव्य (मनुष्य) योनि में आया करता है। कर्त्तव्य तीन हैं जिन की पूर्ति उसको करनी होती है। (१) उसे अपने साथ क्या करना चाहिये ? (२) अन्यों के साथ क्या करना चाहिये ? (३) ईश्वर के साथ क्या करना चाहिये ? इन्हीं कर्त्तव्यों का विधान ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वैदिक सन्ध्या में है, मुख्य सन्ध्या आचमन (शन्नो देवी) मन्त्र से प्रारम्भ होकर (नमःशम्भवाय) इस नमस्कार मन्त्र के साथ समाप्त होती है।

शन्नो देवीरभिष्टय इत्यादि मन्त्र में सन्ध्या का उद्देश्य वर्णित है। मंत्र का भाव यह है कि "परमेश्वर जो सर्वप्रकाशक और सर्वव्यापक है, इच्छित फल और

आनन्द की प्राप्ति के लिये हम पर कल्याणकारी हों और हम पर सुख की वर्षा करें"—संसार में मनुष्य इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये आया करता है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये तीनों कर्त्तव्यों का पालन किया करता है। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य यदि दो शब्दों में वर्णन कर देना हो, तो इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य को दुनिया में अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिये कि जब वह यहां से रुख-सत हो दुनिया के हर्ष समुदाय, खुशी के मजमुए (Happinass के Total) में कुछ वृद्धि करके जाना चाहिये। मंत्र में इसी हर्ष को मात्रावृद्धि के लिये ईश्वर से प्रार्थना की गई है। इस प्रकार आचमन मन्त्र द्वारा तीनों कर्त्तव्यों का उद्देश्य वर्णन कर देने के बाद उन तीनों कर्त्तव्यों का विधान किया गया है। पहला कर्त्तव्य, कि मनुष्य को अपने साथ क्या करना चाहिये, इन्द्रिय—स्पर्श मंत्र से प्रारम्भ होकर अघमर्षण मंत्रों तक समाप्त होता है। दूसरा कर्त्तव्य "मनसापरिक्रमा' के ६ मन्त्रों में वर्णित है। तीसरे और अन्तिम कर्त्तव्य का उपदेश उपस्थान के मन्त्रों में किया गया है। अब उनका क्रमशः वर्णन किया जाता है:—

पहला कर्तव्य—मनुष्य को अपने साथ क्या करना चाहिये ?

इन्द्रिय—स्पर्श के मंत्र में इन्द्रियों का स्पर्श करते हुए प्रार्थना की गई है कि उसमें बल आवे यह मनुष्य के साथ अपना पहला कर्तव्य है। उसे अपनी इन्द्रियों को बलवान् बनाना चाहिये। मनुष्य का बाह्य शरीर इन्द्रियमय अर्थात् इन्द्रियों का समुदाय-मात्र है। इस बाह्य शरीर अर्थात् समस्त ज्ञान और कर्मेन्द्रियों को बलवान् बनाना चाहिये। आंख, नाक, कान, हाथ, पांव आदि दशों इन्द्रियों को बलवान् बनाना कर्तव्य है। स्पर्श करने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय पर विशेष ध्यान देकर इच्छा शक्ति का उस पर प्रयोग करके मन में यह विचार स्थिर करना चाहिये कि स्पृष्ट (कृतस्पर्श) इन्द्रिय में बल आ रहा है। बल की इतनी अधिक उपयोगिता है कि अपने सम्बन्धी कर्त्तव्यों में उसका सबसे पहला स्थान है। उपनिषद् में कहा गया है कि "नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः"। [मुण्डकोपनिषद् ३।२।४] अर्थात् जो मनुष्य निर्बलात्मा और निर्बलेन्द्रिय हैं वे ईश्वरको प्राप्त नहीं कर सकते, परन्तु बल का जहां सदुपयोग

होता है वहां दुरुपयोग भी हो सकता है। अन्याय और अत्याचार बल ही से किए जाते हैं। इसलिये बल के लिये नियन्त्रण अपेक्षित है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के वास्ते मनुष्य का दूसरा कर्तव्य, इसी स्पर्श मन्त्र में, यह स्थिर किया गया है कि उसे अपनी इन्द्रियों को यश वाला भी बनाना चाहिये। बल के साथ यश को जोड़ देने से बल का नियन्त्रण हो गया, अब बल का दुरुपयोग नहीं हो सकता। अन्याय और अत्याचार करने वाले नेकनाम नहीं होते, सदैव बदनाम ही रहा करते हैं। संसार में यश और कीर्ति उन्हीं की हुआ करती है जो बल का सदुपयोग किया करते हैं। "कीर्तिर्यस्य स जीवति"— अर्थात् वह मनुष्य मर जाने पर भी जिन्दा समझा जाता है जिसका संसार में यश रहा करता है+। अस्तु मनुष्य का जहां पहला कर्तव्य यह है कि अपने को बलवान् बनावे उसके साथ

+सर्वजीवत्ववाद (Animism) जिसका जन्म यूनान में हुआ था, उसका एक मुख्य सिद्धान्त ही यह था कि जब तक दिवङ्गत प्राणी के लिये प्रेम और उसकी शुभ-स्मृति जगत् में बाकी रहा करती है। वह प्राणी जीवित ही समझा जाता है। (आत्मदर्शन पृष्ठ १७०)

ही दूसरा कर्तव्य यह है कि अपनी इन्द्रियों को यश-कारी भी बनावे। मनुष्य को अपने साथ तीसरी बात क्या करनी चाहिये, इसका आदेश मार्जन मन्त्र में किया गया है। मार्जन मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि उस के शिर नेत्रादि इन्द्रियों में पवित्रता आवे, यह अपने साथ करने के लिये तीसरा कर्तव्य हैं। मनुष्य को अपनी समस्त इन्द्रियों को पवित्र बनाना चाहिये। इन्द्रियों में पवित्रता आने से मनुष्य का आचार ठीक हुआ करता है और मनुष्य सदाचारी समझा जाया करता है—पवित्रता से इन्द्रियों का नियन्त्रण हुआ करता है—यदि नेत्र पवित्र हैं तो इसका भाव यह है कि वह "मातृवत् परदारेषु" की नीति के अव-लम्बन के साथ ठहरा हुआ है और किसी को कु [पाप] दृष्टि से नहीं देख सकता-पवित्रता से स्वस्थता भी प्राप्त हुआ करती है—मनु ने कहा है "अद्भिर्गात्राणि शुद्-ध्यन्ति" अर्थात् जल से शरीर शुद्ध हुआ करता है—इस पर थोड़ा विचार करो। हमारा यह शरीर असंख्य छिद्रों से पूर्ण है—इन छिद्रों से शरीर का भीतरी मल पसीने के द्वारा खारिज हुआ करता है—जिस प्रकार कारखानों में दिन रात काम होने से बहुत सा मल

बाहर फेंक देने के योग्य निकला करता है इसी प्रकार शरीर रूपी कारखाने में निरन्तर काम होने से कई पौंड मल मूत्र और पसीने के रूप में निकला करता है। तीनों मार्ग शुद्ध और साफ होने चाहिये, तभी यह मल खारिज हो कर शरीर शुद्ध हो सकता है—इसलिये मनुष्य का कर्तव्य है कि शरीर को जल से स्नान द्वारा शुद्ध रक्खे—शुद्ध रखने का मतलब यह है कि शरीर अच्छी तरह मल मल कर साफ किया जावे जिससे प्रत्येक छिद्र का मुंह साफ खुला और इस योग्य हो जावे कि सुगमता से भीतर का मल बाहर निकल सके—स्नान न करने अथवा नाममात्र के करने से छिद्र का मुंह मल से बन्द सा रहेगा और भीतर का मल बाहर न निकल सकने से वह भीतर ही में रह कर अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण बनेगा—इसी प्रकार विचार करने से पता चलेगा कि प्रत्येक इन्द्रिय की शुद्धि से उनकी निरोगता बनी रहती है—इसलिये अपने सम्बंध में करने के लिये मनुष्य का तीसरा कर्तव्य यह है कि वह अपनी इंद्रियों [बाह्य शरीर] के शुद्ध रखने के सम्बन्ध में मनुष्य के इस प्रकार तीन कर्तव्य हैं:—

(१) इन्द्रियों को बलवान् बनाना।

(२) इन्द्रियों को यशवाला बनाना

(३) इन्द्रियों को पवित्र बनाना।

इन कर्तव्यों के पालन कर लेने से इन्द्रियों [बाह्य शरीर] के सम्बन्ध में मनुष्य का कर्तव्य पूरा हो जाता है—अब चौथे कर्तव्य पर विचार करना है—स्थूल शरीर का बाह्य भाग इन्द्रियमय है। उससे सम्बन्धित कर्तव्यों का उल्लेख हो चुका है—स्थूल शरीर के अन्तर्भाग में फेफड़ा हृदय पाचनेन्द्रिय, मस्तिष्कादि सम्मिलित हैं। इनके सिवा सूक्ष्म शरीर के अवयव मन चित्तादि अन्तःकरण हैं। स्थूल शरीर के अन्तरीय भाग और सूक्ष्म शरीर को पुष्ट और शुद्ध करने के लिये प्राणायाम किया जाता है। यही मनुष्य का चौथा कर्तव्य है जो अपने सम्बन्ध में करना चाहिये। प्राणायाम से उपर्युक्त कार्यों की पूर्ति किस प्रकार से होती है इसपर थोड़ा विचार करना है:—

प्राणायाम और शारीरिकोन्नति

प्राणायाम से शारीरिकोन्नति किस प्रकार होती है इस बात को जानने के लिए एक दृष्टि शरीर के अन्दर होने वाले अनिच्छित कार्यों में से हृदय और फेफड़े के कार्यों पर डालनी होगी।

हृदय का स्थूल कार्य

इस शरीर में दो प्रकार की अति सूक्ष्म नलियां हैं, एक तो वे जो समस्त शरीर से हृदय में आती हैं और दूसरी नलियां वे हैं जो हृदय से समस्त शरीर में जाया करती हैं। पहिली नलियां "शिरा" और दूसरी "धमनी" कहलाती हैं।

शिराओं का काम यह है कि समस्त शरीर से अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने के लिये हृदय में लाया करें। हृदय उस रक्त को शुद्ध करता है और शुद्ध करके शुद्ध रक्त को धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में वापिस भेज दिया करता है। रक्त अशुद्ध क्यों होता है? इसका हेतु यह है कि समस्त शरीर के व्यापारों में उसका प्रयोग होता है और संयोग में आने से अशुद्ध हो जाता है।

शुद्ध और अशुद्ध रक्त का भेद

शुद्ध रक्त में कुछ चमक लिये हुए अच्छी सुर्खी होती है परन्तु जब वह अशुद्ध हो जाता है तो उस में कुछ मैलापन आ जाता है। शुद्ध रक्त में ऑक्सिजन (Oxygen) काफी मात्रा में रहता है, परन्तु काम में आने से जब यह अशुद्ध हो जाता है तब उस में

ओक्सिजन की मात्रा नाम मात्र रह जाती है और उस की जगह एक विषैला वायु [Carbonic Acid Gas] रक्त में आ जाता है और इसी परिवर्त्तन से रक्त का रंग मैला, स्याही माइल होजाता है।

फेफड़े का काम

हृदय में जब अशुद्ध रक्त शिराओं के द्वारा पहुँचता है तो हृदय उसे फेफड़े में भेजता है। यहीं से फेफड़े का काम शुरू होता है। फेफड़ा स्पञ्ज की भांति असंख्य छोटे २ घटकों [Cells] का समुदाय है। एक शरीर वैज्ञानिक ने हिसाब लगाया है कि यदि लम्बाई चौड़ाई में फेफड़े के इन कणों (घटकों) को फैला दिया जावे तो उनका विस्तार १४ हजार वर्ग फीट होगा। वे कण एक मांस पेशी [डाए फ्राम] की चाल से खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब यह कण खुलते हैं तब एक ओर से तो हृदय से अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा लिया हुआ शुद्ध वायु दोनों मिलकर उन्हें भर देते हैं। अब इन कणों में इस प्रकार से अशुद्ध रक्त और शुद्ध वायु दोनों एकत्र हो गए हैं। प्रकृति का एक विलक्षण नियम [अशुद्ध रक्त शुद्ध वायु में] काम करता है और वह नियम यह है कि जिसमें

जो वस्तु नहीं होती वह उसी को दूसरे से अपनी ओर खींचती है। रक्त में तो शुद्धवायु [ओक्सिजन] नहीं है और श्वास के द्वारा लिये हुए वायु में कार्बन वायु नहीं है—इन दोनों में जब उपर्युक्त नियम काम करता है तो उसका परिणाम यह है कि रक्त में से कार्बन वायु निकल कर श्वास के वायु में और श्वास के द्वारा आये हुए वायु में से ओक्सिजन निकलकर रक्त में चला आता है। फल यह होता है कि रक्त इस प्रकार शुद्ध और श्वास के द्वारा आया हुआ वायु अशुद्ध हो जाता है। अब शुद्ध रक्त तो हृदय में जाकर धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में चला जाता है और अशुद्ध वायु निःश्वास के द्वारा बाहर निकल जाता है। यह कार्य प्रतिक्षण हुआ करता है।

हृदय की धड़कन

हृदय की धड़कन क्या वस्तु है एक बार हृदय से रक्त का शुद्ध होने के लिये फेफड़े में जाना और फेफड़े से शुद्ध होकर रक्त का हृदय में वापिस आना बस इन्हीं दोनों क्रियाओं से हृदय में एक धड़कन बनती है। औसतन एक मिनट में ७२ धड़कनें एक प्रौढ़ पुरुष के हृदय में हुआ करती हैं। विशेष अवस्थाओं में तथा आयु के

अन्तर से भी धड़कनों की मात्रा न्यूनाधिक हुआ करती है। आम तौर से एक सेकिण्ड से कम समय ही में, एक समय ही में एक बार रक्त शुद्ध होने के लिये फेफड़े में आता है और शुद्ध होकर बाहिर चला जाता है। एक शरीर वैज्ञानिक ने हिसाब लगाया है कि इस प्रकार २४ घण्टे में २५२ मन रक्त हृदय से फेफड़े में आता है और इतना ही रक्त शुद्ध होकर फेफड़े से हृदय में वापिस चला जाता है। इस धड़कन की आवाज़ "लूवड़प" शब्दों के उच्चारण जैसी होती है। जब हृदय संकुचित हो कर रक्त निकलता है तो लूव के सदृश ध्वनि होती है और फैलकर जब रक्त ग्रहण करता तो "डप" शब्द की सी ध्वनि होती है। इन दोनों ध्वनियों में समय का कुछ अन्तर अवश्य होता है परन्तु इतना थोड़ा कि दोनों शब्द मिले हुए से ही मालूम होते हैं, और विशेषज्ञों के सिवाय साधारण लोग इस अन्तर को नहीं ख्याल कर सकते। अस्तु, अब विचारणीय बात यह है कि फेफड़े में शुद्ध वायु न पहुँचने का परिणाम क्या होता है।

यदि हृदय से रक्त शुद्ध होने के लिये फेफड़े में जावे परन्तु श्वास के द्वारा पर्याप्त वायु फेफड़े में न

पहुंचे अथवा सब कोषों [कणों] म जहां रक्त पहुंच चुका है, शुद्ध वायु न पहुंचे तो उसका परिणाम क्या होगा फेफड़े के मुख्यतया तीन भाग हैं [१] ऊपरी भाग जो प्रायः गर्दन तक है [२] मध्य भाग जो दोनों ओर हृदय के इधर उधर है [३] निम्न भाग जो "डायेफ्राम"(मांस पेशी) के ऊपर दोनों ओर है-साधारण रीति से जो श्वास लिया जाता है वह पूर्ण श्वास नहीं होता, न ही हो सकता। इसीलिऐ फेफड़े के सब भागों अथवा सब भागों के समस्त कोषों में नहीं पहुंचता। जब फेफड़े के ऊपरी भाग में श्वास द्वारा वायु नहीं पहुंचता तो ऊपरी भाग फेफड़े का रोगी होना शुरू होता है और उस के इस प्रकार त्रुटिपूर्ण हो जाने से एक रोग होजाता हैं जिसे टयूबर-क्यूलोसिस [Tuberculosis] कहते हैं। और जब इसी प्रकार मध्य और निम्न भाग फेफड़ों के बेकार और त्रूटिपूर्ण होने लगते हैं तो उसके परिणाम में खांसी, दमा, निमोनिया, जीर्णज्वरादि अनेक रोग जो फेफड़ों से सम्बन्धित हैं होने लगते है। इस प्रकार पर्याप्त वायु फेफड़े में न पहुंचने से जहां एक ओर फेफड़ों से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होते हैं—

———

एक और भयङ्कर परिणाम

दूसरी ओर उसका एक परिणाम यह भी होता है कि हृदय से रक्त जो शुद्ध होने के लिये फेफड़े में आता है वह बिना शुद्ध हुए हृदय में वापिस चला जाता आता है। हृदय भी उसे रोक नहीं सकता। वहाँ से वह धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में पहुंचता है। इसका फल रक्त विकार होता है। रक्त के विकृत होने से मामूली रोग खाज [खुजली, खारिश] से लेकर भयङ्कर रोग कुष्ट तक हो जाते हैं। इसलिये इन दुष्परिणामों से बचने के लिए आवश्यक है कि फेफड़े वायु से पूरित होते रहें और उनका कोई भी कण [कोष] ऐसा न रहने पावे जहाँ वायु न पहुंच सके। यहीं से प्राणायाम की जरूरत का सूत्र-पात होता है।

प्राणायाम की आवश्यकता

प्राणायाम के द्वारा मनुष्य जब श्वास को बाहर रोक देता है तब श्वास लेने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जाती है। उसका फल यह होता है कि श्वास भीतर लेते समय श्वास वेग

के साथ तेज हवा या आँधी के सदृश फेफड़े में पहुँचता है। और जिस प्रकार आँधी या तेज हवा नगर के कोने में प्रवेश करती है उसी प्रकार वेग के साथ श्वास के द्वारा भीतर लिया हुआ वायु फेफड़ों के प्रत्येक कोष तक पहुंच जाता है और उससे न तो फेफड़े ही में कोई खराबी होने पाती है और न रक्त ही में कोई विकार उत्पन्न होने पाता है। अस्तु, देख लिया गया है कि प्राणायाम शारीरिकोन्नति का हेतु ही नहीं किन्तु मुख्य हेतु है। इस लिए स्वस्थ रहने के लिये प्रत्येक नर नारी के लिये आवश्यक है कि प्राणायाम किया करे। बहुत वृद्ध पुरुष जो प्राणायाम न कर सकें उन्हें गहरे श्वास लेने का अभ्यास नित्य प्रति १० मिनट तक करना चाहिये। छोटे-बच्चे जो प्राणायाम नहीं कर सकते उन्हें दौड़ने का अभ्यास करना चाहिये। उससे एक दर्जे तक प्राणायाम की जरूरत पूरी हो जाती है।

प्राणायाम से सूक्ष्म शरीर की शुद्धि

प्राणायाम से मन चित्तादि के मल दूर होते हैं।

मनुस्मृति में कहा गया है:—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु० ६।७१॥

अर्थात्—जैसे अग्नि तपाने से [सुवर्णादि] धातुओं का मल नष्ट हो जाता है वैसे ही प्राणायाम के अभ्यास से इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं। मानसिकोन्नति के लिये दो ही बातों की जरूरत होती है, एक मनादि से विकारों का दूर होना, दूसरे चित्त की एकाग्रता प्राप्त होना —इन दोनों की सिद्धि प्राणायाम से हुआ करती है। इस प्रकार प्राणायाम सूक्ष्म शरीर [मनादि की उन्नति का भी कारण है। प्राणायाम के इस प्रकार अभ्यास करने से स्थूल शरीर के अन्तरीय अवयवों और सूक्ष्म शरीर की उन्नति होने से मनुष्य के चौथे कर्त्तव्य की, जो अपने सम्बन्ध में रखता है, पूर्ति होती है।

पांचवें कर्तव्य की पूर्ति अघमर्षण मन्त्रों से होती है। अघमर्षण मन्त्रों में जगत् किस प्रकार उत्पन्न हुआ इस का वर्णन है। जगत् की रचना इतनी, महत्वपूर्ण और स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति उसे सुगमता से देख और उस का महत्व अनुभव कर सकता है। जगत् की विलक्षण रचना जगत् मे उत्पन्न प्रत्येक वस्तु से प्रकट होती है—वृक्षों पर दृष्टि डालिये तो जितने प्रकार के वृक्ष हैं सब का रंग और सब की पत्तियों का

आकार निराला है— कितने विलक्षण ढंग से नीबू खट्टापन, ईख मिठास, मिर्च कडुआपन और प्रत्येक वृक्ष अपना अपना स्वाद भूमि से ले लिया करते हैं --कितनी विलक्षण प्रत्येक की कार्य्य प्रणाली है जो देखने और समझने ही से सम्बन्ध रखती है- एक परमाणु किस प्रकार अपने भीतरी केन्द्र और उसके चारों ओर विद्युत् कणों को भ्रमण में रखता हुआ सूर्य्य मण्डल का नमूना बना हुआ है, यह ऐसी बात है जो बड़े से बड़े वैज्ञानिक को भी चकित कर रही है- सूर्य्य को दिन में काले कांच के टुकड़े को आंखों के सामने रखकर देखो तो सूर्य्य सदैव एक प्रकार की गति में दिखाई देगा —इस गतिमय सूर्य्य को ध्यान में रखते हुये रात्रि में आकाश पर दृष्टि डालो तो इस प्रकार की गति करने वाले, असंख्य सूर्य्य दिखाई देंगे— ग्रह और उपग्रह की गणना का तो जिक्र ही क्या सूर्य्यों की गणना भी आज तक बड़े से बड़े ज्योतिषी नहीं कर सके—अर्वाचीन ज्योतिषियों ने अवश्य यह जानने का यत्न किया है कि हमारे सूर्य्य से कम से कम २६०० शंख से कुछ अधिक दूरी तक कोई और दूसरा सूर्य नहीं है। यदि इसी संख्या को

दो सूर्यों के बीच का अन्तर ठहराया जाये और इस बात को ध्यान में रक्खा जावे कि सूर्य असंख्य हैं और फिर विचार किया जावे कि यह ब्रह्माण्ड कितना विस्तृत है तो मानवी बुद्धि की आंखें चकाचौंध में पड़ जाती हैं और उन्हें इधर उधर कुछ दिखाई नहीं देता और फिर जब पुरुष सूक्त के इस मन्त्र पर विचार करते हैं कि :—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (यजुर्वेद ३१ । ३)

अर्थात् —(अस्य) ईश्वर का (एतावान्) यह ब्रह्माण्ड (महिमा) महत्त्वपूर्ण है (अतः) इस ब्रह्माण्ड से (पूरुषः) वह व्यापक ईश्वर (ज्यायान्) महान् है (च) और (अस्य) ईश्वर का (विश्वाभूतानि) यह समस्त ब्रह्माण्ड (पादः) एक अंश है (अस्य त्रिपाद्) उसके ३ अंश (अमृतम्-दिवि) अपने प्रकाशमय अमर स्वरूप में है—तो उसी (ईश्वर) की महत्ता के सामने मनुष्य का शिर झुक जाता और हृदय प्रेम से पूरित हो उठता है और अनायास उसकी जुबान से निकल जाता है:—

अणोरणीयान्महतो महीयान् (कठो० २ । २०)

प्रभो ! आप सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान्

हैं मनुष्य के हृदय की यह अवस्था होने पर उनमें श्रद्धा का उच्च भाव उत्पन्न होजाता है और आस्तिकता के श्रेष्ठ भाव हृदय में जागृत हो जाते हैं इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर प्राणी निष्पाप हो जाता है। पाप की प्रवृत्ति इस श्रद्धाग्नि से जल भुन कर नष्ट होजाती है। अघमर्षण मन्त्रों का यही उद्देश्य है इस अवस्था का उत्पन्न कर लेना मनुष्य का पाँचवाँ और अन्तिम कर्तव्य है जो उसे अपने सम्बन्ध में करना चाहिये। यहां सन्ध्या का पहला भाग समाप्त हो जाता है। मनुष्य के कर्तव्यों का बतला देना इस भाग का उद्देश्य है इस भाग का निष्कर्ष यह कि मनुष्य को अपने सम्बन्ध में इन पाँच कर्तव्यों का पालन करना चाहिये :—

(१) इन्द्रियों को बलवान् बनाना।

(२) उन्हें यश वाला बनाना।

(३) उन्हें पवित्र बनाना।

(४) स्थूल शरीर के आन्तरिक अवयवों और सूक्ष्म शरीर को भी पुष्ट और शुद्ध बनाना।

(५) ईश्वर के प्रति हृदय में श्रद्धा के उच्चभाव उत्पन्न करना।

दूसरा कर्तव्य-मनुष्यको अन्यों के साथ क्या करना चाहिये ?

सन्ध्याके मनसापरिक्रमा के ६ मन्त्रों में इस दूसरे कर्तव्य का विधान किया गया है मनसापरिक्रमा का भाव है कि मन में ईश्वर के सभी दिशाओं में परिपूर्ण होने (सर्वव्यापकत्व) के भावों को जागृत कर लेना। इन मन्त्रों में ईश्वर को न केवल सारी दिशा में देखा गया है किन्तु उसे इस रूप में भी देखा गया है कि वह सभी ओर से हमारी रक्षा करता है। ऐसे रक्षक प्रभु को नमस्कार करते हुये उससे याचना की गयी है कि—

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥

जो कोई हमसे द्वेष करता है और जिस किसी से हम द्वेष करते हैं ईश्वर 'आप' उस द्वेष को नष्ट कर देवें, जिससे न हम किसी से द्वेष कर सकें और न कोई हमसे द्वेष कर सके। जाति या समाज में झगड़ों के उत्पन्न होने का कारण परस्पर का ईर्षा द्वेष ही हुआ करता है यदि यह ईर्षा द्वेष बाकी न रहे तो फिर सभी प्रकार के झगड़े शान्त हो सकते हैं और झगड़ों के शान्त हो जाने से सद्भाव स्थापित होकर परस्पर आत्मीय प्रेम उत्पन्न हो कर चिरस्थायिनी शान्ति की उत्पत्ति होती है।

पर स्वाभाविक रीति से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सन्ध्या तो हम करते हैं। इस लिये यह संभव है कि हमारे भीतर से अन्यों के प्रति द्वेष भाव का नाश होजाय परन्तु अन्यों के हृदय का द्वेष किस प्रकार नष्ट हो सकता है। और इसी प्रश्न का ठीक उत्तर न समझकर कोई उपर्युक्त वाक्य का अर्थ यह किया करते हैं कि जो हमको द्वेष करते हैं उस व्यक्ति को ईश्वर नाश कर देवें, परन्तु मेरी तुच्छ सम्मति में इस प्रकार के अर्थ से जहाँ मन्त्र का उच्चभाव नीचा होता है वहां पक्षपात की भी गन्ध आती है द्वेष असल में पातक है और किसी से नहीं करना चाहिये और जहां भी इस द्वेष का अस्तित्व हो, नष्ट होना चाहिये। योगदर्शन में कहा गया है--"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" अर्थात् जब मनुष्य मन वाणी और अमल तीनों से अहिंसक हो जाता है तो उसके लिए सभी वैर का त्याग कर देते हैं। यदि इसी मर्यादा के अनुसार एक प्राणी अपने हृदय को द्वेष से खाली कर लेता है तो उसका आवश्यक फल यह होगा कि उस की निर्दोषता उसकी आंखों उसकी आकृति और उसकी सभी बातों से अन्यों पर प्रकट होने लगेगी और आवश्यक रीति से उसका प्रभाव

अनुभू (अनुभवकर्ता) पर यह होगा कि उसका हृदय भी ऐसी व्यक्ति के लिए द्वेषरहित हो जायगा। जगत् में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। भेड़िये बच्चों को खाने के लिये उठा लेजाते हैं परन्तु बालकों की निर्दोष आंखों का उन पर प्रभाव यह पड़ता है कि बजाय मारने के वे उनकी परवरिश करने लगते हैं-ऐसे अनेक बच्चे जिनका पालन पोषण भेड़ियों ने किया था। बरेली अनाथालय तथा अन्य स्थानों पर आचुके हैं और अनेक पुरुष स्त्रियों ने उन्हें अपनी आँखों से देखा भी है। "हर्ष चरित" में आता है कि राजा हर्ष-वर्धन जब दिवाकर की तपोभूमि में गये तो उन्होंने हिंसा त्यागे हुए शेर को देखा जो आश्रम-वासियों के साथ मिलजुल कर रहा करता था। अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् थौरियो (Thoreau) के लिए भी कहा गया है कि उसने अहिंसा की सिद्धि की थी। और फल यह था कि सांप, बिच्छू, शहद की मक्खी आदि उसके शरीर के सम्पर्क में आजाने पर भी उसको कष्ट नहीं देती थीं। इस लिये सन्ध्या करने वालों के लिये आवश्यक है कि वे अन्यों का विचार छोड़कर अपने हृदय को दोषरहित करने का यत्न

करें। इसलिये ६ बार एक बार की सन्ध्या में इस आवश्यक बात को दुहराया तिहराया गया है। ऐसा करलेने से वे अपने उन कर्तव्यों का पालन कर सकेंगे जो उनको अन्यों के सम्बन्ध में पूरा करना है। जिस समय हृदय अन्यों के लिए द्वेष रहित हो जावेंगे तो अन्य आवश्यक बात, जो समाज या जाति बनाने के लिए अपेक्षित हैं, वे उनको स्वयमेव पालन करने लगेंगे।

तीसरा कर्तव्य—मनुष्य को ईश्वर के सम्बन्ध में क्या करना चाहिये ?

सन्ध्या में आये हुए उपस्थान के मन्त्रों में इस तीसरे कर्तव्य का कि मनुष्य को ईश्वर के सम्बन्ध में क्या करना चाहिये, यह विधान है। उपस्थान और उपासना प्रायः पर्य्यायवाचक से हैं और दोनों का एक ही भाव है अर्थात् ईश्वर के समीप होना।

मनुष्यों को ईश्वर के समीप होने की क्यों जरूरत है और क्यों उसे ईश्वर की उपासना करनी चाहिये इसका कारण यह नहीं है कि ईश्वर हमारी उपासना का हाजतमन्द है, बल्कि इसका हेतु और मुख्य हेतु यह है

कि मनुष्य के अधिकार में अपने को अच्छा बनाने के जितने साधन हैं उनमें यह श्रेष्ठतम साधन है। मनुष्य अपने जीवन का कुछ उद्देश्यरखता है जिसका वर्णन इस व्याख्यान के प्रारम्भ में हो चुका है। उद्देश्य की पूर्ति के लिए आदर्श की जरूरत होती है। अच्छे से अच्छे मनुष्य का आदर्श ही क्यों न हो वह त्रुटि से रहित परन्तु ईश्वर का आदर्श सदैव त्रटिरहित होता है। इसलिये ईश्वर को आदर्श रूप में रखकर उसके गुणों को अपने भीतर लाने के लिए उनका सार्थक जप करना चाहिये, उन गुणों के अर्थ की भावना मन में करने से जैसी कि जप की मर्यादा है:—

तज्जपस्तदर्थभावना। (योगदर्शन)

मनुष्य के भीतर उन गुणों का प्रभाव पड़ता है और क्रमशः वे उसके भीतर आने लगते हैं। जितने २ गुणों का समावेश मनुष्य के आत्मा में इस प्रकार होता जावेगा, और जितना समीप होता जावेगा उतना ही अधिक गुणवान बनता जावेगा। यही तीसरे कर्तव्य की पूर्ति का मूल उद्देश्य है।

उपस्थान के मन्त्रों में ईश्वर के गुणों का इस प्रकार वर्णन है:—

मन्त्र	गुण
पहला मन्त्र (१) तमसस्परि	अन्धकार रहित।
(२) उत्तर	प्रलय के बाद रहने वाला।
(३) देव	प्रकाश स्वरूप।
(४) सूर्य्य	प्रकाश पुंज।
(५) ज्योतिरुत्तमम्	अलौकिक प्रकाशमय।
(६) स्वः	सुख स्वरूप।
दूसरा मन्त्र (७) जातवेद	वेद (ज्ञान) का उत्पन्न करने अथवा देने वाला।
तीसरा मन्त्र (८) चक्षुः	द्रष्टा।
चौथा मन्त्र (९) शुक्रम्	पवित्र।
पाँचवाँ मन्त्र (१०) भूर्भुवः स्वः	सच्चिदानन्द।
(११) सवितुः	उत्पादक।
(१२) वरेण्यम्	ग्रहण करने योग्य।
(१३) भर्गः	शुद्ध।
(१४) देव	ज्योतिर्मय।
छठा मन्त्र (१५) शम्भु	आनन्दमय।
(१६) मयोभव	आनन्दस्वरूप।

मन्त्र गुण

(१७) शङ्कर—कल्याणकारी ।

(१८) मयस्कर—सुखदाता ।

(१९) शिव—मङ्गल स्वरूप ।

(२०) शिवतर—अत्यन्त आनन्ददाता ।

मनुष्य के भीतर इन बीस गुणों में से यदि दो चार का भी समावेश हो जावे तो उसका कल्याण हो सकता है—उपस्थान के मंत्रों का उद्देश्य भी यही है कि मनुष्यों में प्रभु की दिव्य ज्योति आवे और उनका कल्याण कर देवे ।

तीन आवश्यक साधन

इन तीनों कर्तव्यों के पालन करने के लिये तीन बातों की जरूरत हुआ करती है:—

"पहली आवश्यकता"—मनुष्य के पास समय होना चाहिये जिसमें इन कर्तव्यों की पूर्ति का यत्न किया जासके । इसी लिये उपस्थान के चौथे मन्त्र में १०० वर्ष की आयु-प्राप्ति की प्रार्थना की गई है--इसका भाव यह नहीं की मनुष्य १००वर्ष तक निरन्तर ईश्वरोपासना ही किये

करे और कुछ न करे इसी १०० वर्ष की आयु में सन्ध्या के लिये वास्तव में बहुत थोड़ा समय रक्खा गया है। दिन के २४ घण्टों में केवल २ घंटे प्रातः और सायङ्काल मनुष्य को ईश्वरोपासना और आत्म-चिन्तन में व्यतीत करना चाहिये-- बाकी समय में वह जो चाहे (शुभ कर्म) सो कर सकता है।

सन्ध्या दो समय ही करनी चाहिये

सन्ध्या दो ही समय करनी चाहिये ३, ४, ५, ६ वार नहीं--कोई मनुष्य यदि योगी बन कर चाहे तो वह सारी आयु ईश्वर चिन्तन में लगा सकता है, इसका कभी निषेध नहीं किया जा सकता। परन्तु सन्ध्या का वह नियम, जिसे प्रत्येक प्राणी पालन कर सके यह है कि आवश्यक रीति से प्रातः सायं प्रत्येक नर नारी को सन्ध्या करनी चाहिये। इसके लिये कुछेक प्रमाण दिये जाते हैं:—

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ १ ॥

अथर्व० १९ । ५५ । ३ ॥

शब्दार्थ—(सायं सायम्) सायङ्काल (नः) हमारे (गृहपति) घरों का रक्षक और (प्रातः प्रातः) प्रातः

काल (सौमनस्य) सुख का (दाता) देने वाला (अग्निः) ईश्वर (वसो-वसोः) उत्तम २ प्रकार के (वसुदानः) ऐश्वर्य देने वाला (एधि) हो, इन दोनों कालों में (त्वा) तुझको (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुए (वयम्) हमलोग (तन्वम्) शरीर को (पुषेम) पुष्ट करें।

प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्नि सायं साय सौमनस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ॥ १ ॥

अथर्व० १९ । ५५ । ४ ॥

अर्थात्—प्रातःकाल हमारे घरों का रक्षक और सायं काल सुखदाता ईश्वर उत्तम प्रकार के ऐश्वर्य्य का देने वाला हो। [त्वा] आप का [इन्धानाः] प्रकाश फैलाते हुये [शतं हिमाः] सौ वर्ष तक [ऋधेम] उन्नति करते रहें।

उपत्वाऽग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥ २ ॥

सामवेद । १ । १ । २ । ४ ॥

अर्थात्—हे [अग्ने] ईश्वर [दिवेदिवे] प्रतिदिन

[दोषावस्तः] प्रातः सायम् [धिया] भक्ति से [नमः] नमस्कार [भरन्त] करते हुए [उपत्वा] आपके समीप [आ—इमसि = एमसि] आते हैं—

तस्मादाहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः संध्यामुपासीत् । उदयन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् ॥ ४ ॥

षड्विंशे ब्राह्मणे प्र० ४ खं० ५ ॥

अर्थात्—इसलिए रात दिन के मेल के समयों में विद्वान् संध्योपासना करे, उदय और अस्त होते हुए सूर्य्य की ओर ध्यान देकर अर्थात् प्रातः काल पूर्व और सायंकाल पश्चिम की ओर मुख करके संध्या करे—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्चपश्चिमाम् । स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ मनु० २ । १०३ ॥

अर्थात्—जो प्रातःकाल की संध्या न करे और जो सायंकाल की भी न करे वह सम्पूर्ण द्विजों के कर्म से बहिष्कार्य्य है ।

सन्ध्या के समय की उपयोगिता

[सं] उत्तम प्रकार से [ध्यै] ध्यान करना यह

भाव है जो सन्ध्या शब्द से निकलता है। सन्ध्या शब्द अपने भीतर किसी खास समय को नियत कर देने का भाव नहीं रखता। सिवाय इसके जिस समय में उत्तम रीति से ईश्वर का ध्यान किया जा सके उसी का नाम सन्ध्या काल है। इसका एक कारण है और बड़ा महत्त्वपूर्ण कारण है, और वह कारण यह है कि सन्ध्या केवल भारतवर्ष के लिये ही नहीं जहाँ १२--१२ घण्टे के औसतन दिन रात हुआ करते हैं बल्कि समस्त भूमण्डल के लिये है जिसमें ऐसे देश भी सम्मिलित हैं जहाँ कई दिन और कई मास के बराबर दिन और रात हुआ करते हैं। इसलिये सन्ध्या शब्द का अभिप्राय तो ऐसा है जो प्रत्येक देश और स्थान के लिये लागू हो सके, परन्तु भारतवर्ष के लिये यहां की अवस्था और सूर्य्य के उदय अस्त के समयों पर विचार कर ब्राह्मण और स्मृतिकारों ने प्रातः और सायं दिन और रात के दोनों सन्ध्या के काल नियत किये हैं। इन कालों की बड़ी उपयोगिता यह है कि प्रत्येक सन्धि-

काल में उससे पहिले बीतनेवाले दिन या रात का काम समाप्त हो जाता है, परन्तु उसके बाद आने वाले रात या दिन का प्रारम्भ नहीं होता। इसलिए यह समय वह होता है जिसमें न दिन के कामों की चिन्ता होती है न रात्रि के कार्यों की। ऐसा और इतना उपयोगी सन्ध्या समयों के सिवा और कोई नहीं होता—मध्याह्न का समय तो अत्यन्त चिन्ता और थकावट का होता है। ऐसी चिन्तित और थकावट की अवस्था में कोई भी साधारण पुरुष स्त्री ईश्वर का ध्यान नहीं कर सकते। वेद में जहाँ इस प्रकार के वाक्य आये हैं कि—

मम त्वा सूर उदिते मम मध्यन्दिने दिवः। मम प्रपित्वे अपि शर्वरे वसवास्तोमासो अवत्सत॥ (ऋ० ८।१।२९)

अर्थात्—हे (वासो) ईश्वर (सूर उदिते) सूर्योदय के समय (दिवः मध्यन्दिने) दिन के मध्य में (अपिशर्वरे) रात्रि में (प्रपित्वे सायंकाल के समय) (मम स्तोमासः) मेरे स्तोत्र (त्वा) तुझको (अवत्सत) मेरी ओर करें। इस

मन्त्र में दोनों रात और दिन में ईश्वर के भजन गाने का विधान किया गया है। सन्ध्या से इस का कुछ भी सम्बन्ध नहीं । अथवा जैसे यह मन्त्र है:—

यदद्य सूर्य उद्यतिप्रिय क्षत्रा ऋतंदध । यन्निम्रुचि प्रबुधि विश्ववेदसो यद्वा मध्यन्दिने दिवः ॥ ऋ० ८।२७।१६ ॥

अर्थात्—हे [प्रियक्षत्राः] क्षत्रियो ! [विश्ववेदसः] हे सावधन विद्वानों ! [अद्य] अभी [यद्] या [सूर्य-उद्यति] सूर्य के उदय होने पर [यद्] या [निम्रुचि] सूर्यास्त के समय [प्रबुधि] या प्रबोधकाल [दिवः मध्यन्दिने] या दिन के मध्य [ऋतं दध] आप सत्यता को धारण करें—

इस मन्त्र में भी प्रत्येक समय मनुष्यों को [ऋत्] तीनों काल में एक जैसी रहने वाली सचाई के धारण करने का विधान है—इसका भी सन्ध्या से कुछ सम्बन्ध नहीं है—ऐसे भी अनेक मन्त्र हैं जिनमें मनुष्यों की सायं प्रातः और मध्य दिन में मेधा [धारणावती]

बुद्धि के धारण करने का उपदेश है। देखो [अथर्व० ६। १०८। ५ मेधां सायं मेधां प्रातः] या जिनमें इसी प्रकार प्रत्येक समय श्रद्धा के धारण करने का विधान है। देखो ऋग्वेद १०। १५१। ५ श्रद्धांप्रात-र्हवामहे........इनका भी सन्ध्या से कुछ सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य को दिन रात प्रत्येक समय ही अच्छे गुणों को ग्रहण करने के लिये यत्नवान् रहना ही चाहिये।

दूसरी आवश्यकता—मनुष्य को "अदीन" अर्थात् स्वतन्त्र होने की जरूरत है, जिससे वह स्वतन्त्रता के साथ सन्ध्या मे वर्णित तीनों कर्त्तव्यों का पालन करसके। कर्त्ता के लिए पाणिनि के "स्वतन्त्रः कर्त्ता" के आदेशानुसार स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इसीलिये उपस्थान के चौथे मन्त्र ही में "अदीनः स्याम शरदः शतम्" १०० वर्ष तक स्वतन्त्र रहने की भी ईश्वर से प्रार्थना की गई है—

तीसरी आवश्यकता—मनुष्य को इन कर्तव्य

त्रय के पालन करने के लिये जहां समय और स्वतंत्रता की जरूरत है उस के साथ ही तीसरी जरूरत "बुद्धि" की है। बिना बुद्धि के मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। इसी लिये उपस्थान के पांचवें [गायत्री] मंत्र में ईश्वर से प्रार्थना की गयी है कि मेधा (प्रेरित की हुई) बुद्धि प्राप्त हो। इन तीनों साधनों के प्राप्त होने से मनुष्य अपने तीनों कर्तव्यों का समुचित रीति से पालन कर सकता है।

संध्या की इस व्याख्या पर दृष्टिपात करने से प्रत्येक समझदार नरनारी इस बात को भली भांति समझ सकेगा कि संध्या कितना आवश्यक कर्तव्य है, और इसीलिये उसके एक २ शब्दार्थ को समझते और विचार करते हुए बड़ी श्रद्धा और प्रेम से प्रत्येक को संध्या करनी चाहिये।

२—देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र उसका आचरण इस प्रकार से करना चाहिये कि संध्योपासन करने के पश्चात् और सायंकाल संध्योपासन से पहले

अग्निहोत्र का समय है। उसके लिए सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा वा मिट्टी का कुण्ड बनवा लेना चाहिये जिसका परिमाण सोलह अंगुल चौड़ा, सोलह अंगुल गहिरा और उसका तला चार अंगुल का लम्बा चौड़ा रहे। एक चमसा जिसकी डंडी सोलह अंगुल और उस का तला चार अंगुल का लम्बा चौड़ा रहे। एक चमसा जिसकी डंडी सोलह अगुल और उसके अग्रभाग में अंगूठा की यवरेखा की प्रमाण से लम्बा चौड़ा आचमनी के समान लेवे सो भी सोना, चांदी वा पलाशादि लकड़ी का हो। एक आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि सामग्री रखने का पात्र सोना, चाँदी वा पूर्वोक्त लकड़ी का बनवा लेवे। एक जल का पात्र तथा एक चिमटा और पलाशादि की लकड़ी समिधा के लिये रख लेवे। पुनः घृत को गर्मकर छान लेवे। और एक एक सेर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर पीस के मिलाकर उक्त पात्र के तुल्य दूसरे पात्र में रख छोड़े। जब अग्निहोत्र करे तब शुद्ध

स्थान में बैठ के पूर्वोक्त पास रख लेवे। जल के पात्र में जल और घी के पात्र में एक छटांक वा अधिक जितना सामर्थ्य हो उतने शोधे हुए घी को निकाल कर अग्नि में तपा के सामने रख लेवे। तथा चमसे को भी रख लेवे। पुनः उन्हीं पलाशादि वा चन्दनादि लकड़ियों को वेदी में रखकर उनमें अग्नि धरके पंखे से प्रदीप्त कर नीचे लिखे मन्त्रों में से एक २ मन्त्र से एक २ आहुति देता जाय, प्रातःकाल वा सायंकाल में। अथवा एक समय में करे तो सब मंत्रों से सब आहुति किया करे।

अथाग्निहोत्र-मन्त्राः

प्रातःकाल हवन करने के मन्त्र

सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा ॥ सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजू—रुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा ॥

सायंकाल हवन करने के मन्त्र

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा। अग्निर्वर्च्चोज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा॥ अग्निर्ज्योति ज्योतिरग्निः स्वाहा॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणोऽग्निर्वेतु स्वाहा॥ य० अ० ३। म० ६।१०॥

नीचे के ये वे मन्त्र हैं जिन से दोनों समय आहुति दी जाती हैं—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा॥ ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥ ओं आपोज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ओं सर्वं वै पूर्णं ँ स्वाहा॥

भाषार्थ

[सूर्योज्यो०] जो चराचर का आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाशक है। उसकी प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं। [सूर्योव०] जो

सूर्य परमेश्वर हम को सब विद्याओं का देनेवाला और हम लोगों से उनका विचार करानेवाला है उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं। [ज्योति : सूर्य:०] जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करनेवाला सूर्य्य अर्थात् सब संसार का ईश्वर है उसकी प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं [सजूर्देवेन०] जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्यापक, वायु और दिन के साथ परिपूर्ण, सब पर प्रीति करने वाला और सब के अंग २ में व्याप्त है। वह अग्नि परमेश्वर हम को विदित हो। उसके अर्थ हम होम करते हैं। इन चार आहुतियों को प्रातःकाल अग्निहोत्र में करना चाहिये। [अग्निर्ज्योति०] अग्नि जो परमेश्वर ज्योतिःस्वरूप है उसकी आज्ञा से हम परोपकार के लिये होम करते हैं और उसका रचा हुआ जो यह भौतिकाग्नि है जिसमें द्रव्य डालते हैं सो इसलिये है कि उन द्रव्यों को परमाणु कर के जल और वायु, वृष्टि के साथ मिलाके उन को शुद्ध

करदे जिससे सब संसार सुखी होके पुरुषार्थी हो। [अग्निर्वर्च्चो॰] अग्नि जो परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला तथा भौतिक अग्नि आरोग्य और बुद्धि बढ़ाने का हेतु है इसलिये हम लोग होम करके परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं यह दूसरी आहुति हुई। तीसरी आहुति प्रथम मन्त्र से देनी चाहिये और चौथी [सजूर्देवेन॰] जो परमेश्वर प्राणादि में व्यापक वायु और रात्रि के साथ पूर्ण, सब पर प्रीति करनेवाला और सब के अंग २ में व्याप्त है वह अग्नि परमेश्वर हमको प्राप्त हो जिसके लिये हम होम करते हैं। अब जिन मन्त्रों से दोनों समय में होम किया जाता है उनको लिखते हैं [ओं भू॰] इन मन्त्रों में जो २ नाम हैं वे सब ईश्वर के ही जानो उनके अर्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ में देखने योग्य हैं और [आपो॰] और जो परमेश्वर के प्रकाश को प्राप्त हो के रस अर्थात् नित्यानन्द मोक्षस्वरूप है उस ब्रह्म को प्राप्त होकर तीनों लोकों में हम लोग आनन्द से विचरें। इस

प्रकार प्रातः और सायंकाल सन्ध्योपासन के पीछे इन पूर्वोक्त मन्त्रों से होम करके अधिक होम करने की जहांतक इच्छा हो वहांतक स्वाहा अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से होम करें। अग्नि वा परमेश्वर के लिये जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञा पालन के अर्थ होत्र जो हवन अर्थात् दान करते हैं उसे अग्निहोत्र कहते हैं। केशर, कस्तूरी आदि सुगन्ध, घृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़ शर्करा आदि मिष्ट तथा सोमलतादि औषधि रोगनाशक, जो ये चार प्रकार के बुद्धि-वृद्धि शूरता, धीरता, बल और आरोग्य करने वाले गुणों से युक्त पदार्थ हैं उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि करके शुद्ध पवन और जलके योग से पृथ्वी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है उससे सब जीवों को सुख होता है। इस कारण उस अग्निहोत्र कर्म्म करने वाले मनुष्यों को भी जीवों के उपकार करने से सुख का लाभ होता है तथा ईश्वर भी उन मनुष्यों पर प्रसन्न होता है। ऐसे २ प्रयोजनों के अर्थ अग्निहोत्रादि का

करना उचित है ।

३—पितृयज्ञ

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ॥ पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ य० अ० १६। मं० ३६ ॥ द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्धि वै देवा व्रत चरन्ति यत्सत्यं तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति॥ शत कां०१। अ०१। ब्रा०१। कं० ४ । ५॥ विद्वा ँसो हि देवाः ॥ शत० कां० ३ । अ० ७ ब्रा ० ६ । कं० १० ॥

भाषार्थ

अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं। उसके दो भेद हैं। एक तर्पण, दूसरा श्राद्ध। तर्पण उसे कहते हैं जिस कर्म से विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं। उसी प्रकार जो उन लोगों की श्रद्धा से सेवा करना है सो श्राद्ध कहाता है। यह तर्प्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है मृतकों

में नहीं क्योंकि उनकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है। इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती किन्तु जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता इसीलिये मृतकों को सुख पहुंचाना सर्वथा असंभव है इसी कारण विद्यमानों के अभिप्राय से तर्प्पण और श्राद्ध वेद में कहा है। सेवा करने योग्य और सेवा करने वाले इनके प्रत्यक्ष होने पर यह सब काम हो सकता है। तर्प्पण आदि कर्म में संस्कार करने योग्य तीन हैं। देव, ऋषि और पितर। उनमें से देवों में प्रमाण—(पुनन्तु०) हे जातवेद परमेश्वर आप सब प्रकार से मुझ को पवित्र करें। जिनका चित्त आप में हैं तथा जो आपकी आज्ञा पालते हैं वे विद्वान् श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष भी विद्यादान से मुझ को पवित्र करें। उसी प्रकार आप का दिया जो विशेष ज्ञान वा आपके विषय का ध्यान है उससे हमारी बुद्धि पवित्र हो [पुनन्तु विश्वाभूतानि ०] और संसार के सब जीव आपकी कृपा से पवित्र और

आनन्द युक्त हों [द्वयं वा०] दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं, अर्थात् देव और मनुष्य। यहां सत्य और झूंठ दो कारण हैं। [सत्यमेव०] जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं वे देव और वैसे ही झूंठ बोलने, झूंठ मानने और झूंठ कर्म करने वाले मनुष्य कहाते हैं। जो झूंठ से अलग होके सत्य को प्राप्त हों वे देवों में गिने जाते हैं और जो सत्य से अलग होके झूंठ को प्राप्त हों वे मनुष्य, असुर और राक्षस कहे हैं इससे सब काल में सत्य ही कहे, माने और करे। सत्यव्रत का आचरण करने वाला मनुष्य यशस्वियों में यशस्वी होने से देव और उससे उलटे कर्म करने वाला असुर होता है। इस कारण से यहां विद्वान् ही देव हैं।

अथर्षिप्रमाणम्

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ य० अ० ३१ ॥ मं० ९ ॥ अथ यदेवानुब्रूवीत

तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥शत० कां० ७। अ० ७। कं० ३॥ अथार्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते॥ शत० कां० १। प्रपा० ३। अ० ४। कं ३

भाषार्थ

(तं यज्ञम्०) इस मन्त्र का अर्थ भूमिका के सृष्टि-विद्या विषय में कह दिया है, अब इसके अनन्तर सब विद्याओं को पढ़ के जो पढ़ाना है वह ऋषिकर्म कहाता है। उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम २ पदार्थ देने से निवृत्त होता है और जो इन ऋषियों की सेवा करता है वह उनको सुख करने-वाला होता है (निधिगोपः) यही व्यवहार अर्थात् विद्या कोश का रक्षा करने वाला होता है। जो सब विद्याओं को जान के सब को पढ़ाता है उसको ऋषि कहते हैं। (अथार्षेयं प्रवृणीते०) जो पढ़के पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है सो आर्षेय अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है, जो उस कर्म को करते हैं

उन ऋषियों और देवों के लियेप्रसन्न करनेवाले पदार्थों को देता तथा सेवा करता है वह विद्वान् अति पराक्रमी हो के विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करने वाला है उसका ऋषि नाम होता है। इस कारण से इस आर्षेय कर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें॥

अथ पितृषु प्रमाणम्

ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधास्थ तर्प्पयत मे पितॄन्॥ य० अ० २। म० ३४॥

भाषार्थ

(ऊर्ज्जं वहन्ती०) पिता वा स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री वा नौकरों को सब दिन के लिये आज्ञा देके कहे कि (तर्प्पयत मे पितॄन्) जो पिता पितामहादि, माता मातामहादि तथा आचार्य्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध मान्य करने योग्य हों उन सब के आत्माओं को यथा-योग्य

सेवा से प्रसन्न किया करो। सेवा करने के पदार्थ ये हैं (ऊर्ज्जं वहन्ती) जो उत्तम २ जल (अमृतम्) अनेकविध रस (घृतम्) घी (पयः) दूध (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम २ अन्न (परिश्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम २ फल हैं इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो जिससे उनका आत्मा प्रसन्न होके तुम लोगों को आशीर्वाद देता रहे कि उससे तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहो (स्वधा स्थ०) हे पूर्वोक्त पितृलोगो! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से सदा सुखी रहो और जिस २ पदार्थ की तुम को अपने लिये इच्छा हो जो जो हम लोग कर सकें उस २ की आज्ञा सदा करते रहो। हम लोग मन, वचन, कर्म से तुम्हारे सुख करने में स्थित हैं। तुम लोग किसी प्रकार का दुःख मत पाओ। जैसे तुम लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है वैसे हम को

भी आप लोगों का प्रत्युपकार अवश्य करना चाहिये जिससे हमको कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो ॥१॥

पितरों की गणना

येषां पितृसंज्ञा ये सेवितुं योग्याश्च ते क्रमशो लिख्यन्ते । सोमसदः । अग्निष्वात्ताः । बर्हिषदः । सोमपाः । हविर्भुजः । आज्यपाः । सुकालिनः । यमराजाश्चेति ।

भाषार्थ

(सो०)जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण और जो शान्त्यादिगुण सहित हैं वे सोमसद् कहाते हैं (अ०) अग्नि जो परमेश्वर वा भौतिक उनके गुण ज्ञात करके जिनने अच्छे प्रकार अग्नि विद्या सिद्ध की है उनको अग्निष्वात्ता कहते हैं । (ब०) जो सब से उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य विद्यादि उत्तम गुणों में वर्तमान हैं उनको बर्हिषद् कहते हैं । (सो०) जो यज्ञ करके सोमलतादि उत्तम ओषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं तथा जो

सोमविद्या को जानते हैं उनको सोमपा कहते हैं। (ह०) जो अग्निहोत्रादियज्ञ करके वायु और वृष्टि-जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते और जो यज्ञ से अन्नजलादि को शुद्ध करके खाने पीने वाले हैं उनको हविर्भुज कहते हैं। [आ०] आज्य कहते हैं घृत स्निग्ध पदार्थ और विज्ञान को जो उसके दान से रक्षा करने वाले हैं, उनको आज्यपा कहते हैं। [सु] मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्य विद्या के उपदेश ही में जिनका समय बीतता है उनको सुकालिन् कहते हैं। (य०) जो पक्षपात को छोड़ के सत्य व्यवस्था न्याय ही करने में रहते हैं उनको यमराज कहते हैं॥

पितृपितामह प्रपितामहाः। मातृपितामही प्रपितामह्यः सगोत्राः सम्बन्धिनः॥

भाषार्थ

जो वीर्य्य के निषेकादि कर्मों करके उत्पत्ति और और पालन कर और चौबीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम

से विद्या को पढ़े उसका नाम पिता और वसु है। [पिता०] जो पिता का पिता हो और चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्म-चर्य्याश्रम से विद्या पढ़के पक्षपात रहित होकर न्यायसे दुष्टों को दण्ड देता है वह पितामह और रुद्र है और (प्रपि०) जो पितामह का भी पिता आदित्य के समान गुणों का प्रकाशक अड़तालिस वर्ष पर्यन्त सब विद्याओं को पढ़कर विद्वान् हो, सब जगत् का उपकार करता हो उसको प्रपितामह और आदित्य कहते हैं तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष हैं उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये। (मा०) पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों की भी सेवा करनी चाहिये।(सगो०)जो समीपवर्ती ज्ञाति के योग्य पुरुष हैं वे भी सेवा करने के योग्य हैं। (आचार्य्यादि सं०) जो पूर्ण विद्या के पढ़ाने वाले और श्वशुरादि सम्बधी तथा उनकी स्त्री हैं उनकी भी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए।

भाषार्थ

जो सोमसदादि पितर विद्यमान अर्थात् जीवते हों उनका प्रीति से सेवनादि से तृप्त करना तर्पण और श्रद्धा से अत्यन्त प्रीति पूर्वक सेवन करना है सो श्रद्धा कहाता है जो सत्य विज्ञानदान से जनों का पालन करते हैं वे

पितर हैं। इस विषय में प्रमाण -"ये नः पूर्वेपितरः सोम्यास" इत्यादि मन्त्र सोमसदादि सातों पितरों में प्रमाण हैं। "समानाः समनसः पितरो यमराज्ये" इत्यादि मन्त्र यमराजों, "पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः," इत्यादि मन्त्र पितृ-पितामह -प्रपितामहादिकों तथा "नमो वः पितरो रसायेत्यादि" मन्त्र पितरों के सेवा और सत्कार में प्रमाण हैं। ये ऋग्यजुर्वेद आदि के वचन हैं और मनुजी ने भी कहा है कि पितरों को वसु, पितामहों को रुद्र और प्रपितामहों को आदित्य कहते हैं यह सनातन श्रुति है॥ मनु० अ० ३। श्लोक २८४॥

४—बलिवैश्वदेव की विधि

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने॥ रायस्पोषेण समिषा मदन्तो माते अग्ने प्रतिवेशारिषाम॥ १॥ अथर्व ० कां० १६। अनु०७। मं० ७॥ पुनंतु मा देवजनाः पुनंतु मनसा धियः। पुनंतु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥२॥ य० अ० १६। मं० ३६॥

भाषार्थ

[अहरहर्बलि॰] हे अग्ने परमेश्वर ! आपकी आज्ञा से नित्यप्रति बलिवैश्वदेव कर्म करते हुए हमलोग [रायस्पोषेण समिषा] चक्रवर्तीराज्यलक्ष्मी घृतदुग्धादि पुष्टिकारक पदार्थों की प्राप्ति और सम्यक् शुद्ध इच्छा से [मदंतः] नित्य आनन्द में रहें तथा माता, पिता, आचार्य्य आदि की उत्तम पदार्थों से नित्य प्रीतिपूर्वक सेवा करते रहें [अश्वायेव तिष्ठते घासम्] जैसे घोड़े के सामने बहुत से खाने वा पीने के पदार्थ धर दिये जाते हैं वैसे सब की सेवा के लिये बहुत से उत्तम २ पदार्थ देवें जिनसे वे प्रसन्न होके हम पर नित्य प्रसन्न रहें. [मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम] हे परम गुरु अग्नि परमेश्वर ! आप और आप की आज्ञा से विरुद्ध व्यवहारों में हम लोग कभी प्रवेश न करें और अन्याय से किसी प्राणी को पीड़ा न पहुंचावें किन्तु सब को अपना मित्र और अपने को सबका मित्र समझ के परस्पर उपकार करते रहें ॥१॥

(पुनन्तु०) इसका अर्थ पहले दिया जा चुका है ॥ २ ॥

ओमग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुह्वै स्वाहा॥ ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ओं सह द्यावापृथ्वीभ्यां स्वाहा ॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥

भाषार्थ

[ओम०] अग्नि शब्दार्थ कह आये हैं। [ओं सो०] जो सब पदार्थों को उत्पन्न और पुष्ट करने से सुख देने हारा है उसको सोम कहते हैं। [ओम०] जो प्राण सब प्राणियों के जीवन का हेतु और अपान अर्थात् दुःख के नाश का हेतु है इन दोनों को अग्नीषोम कहते हैं। [ओं वि०] यहां संसार को प्रकाश करने वाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोगों का विश्वेदेव शब्द से ग्रहण होता है। [ओं ध०] जो जन्म मरणादि रोगों का नाश करने हारा परमात्मा वह धन्वन्तरि कहाता है। [ओं कु०] जो अमावास्येष्टि का करना है। [ओं म०]

जो पौर्णमास्येष्टि वा सर्व शास्त्र प्रतिपादित परमेश्वर की चिति शक्ति है यहां उसका ग्रहण है। [ओं प्र०] जो सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर है वह प्रजापति कहाता है। [ओं स०] यह प्रयोग पृथ्वी का राज्य और सत्य विद्या से प्रकाश के लिए हैं। [ओं वि०] जो इष्ट सुख करनेहारा परमेश्वर है वही स्विष्टकृत् कहाता है। ये दश अर्थ दश मन्त्रों के हैं। अब बलिदान के मन्त्रों को लिखते हैं॥

बलिदान के मन्त्र

ओं सानुगायेन्द्राय नमः। ओं सानुगाय यमाय नमः। ओं सानुगाय वरुणाय नमः। ओं सानुगाय सोमाय नमः। ओं मरुद्भ्यो नमः। ओमद्भ्यो नमः ओं वनस्पतिभ्यो नमः। ओं श्रियै नमः। ओं भद्रकाल्यै नमः। ओं ब्रह्मपतये नमः। ओं वास्तुपतये नमः। ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः। ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः। ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः। ओं सर्वात्मभूत्यै नमः। ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः॥

भाषार्थ

[ओं सा०] जो सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और जो

उसके गुण हैं वे सानुग इन्द्र शब्द से ग्रहण होते हैं। [ओं सा०] जो सत्य न्याय करने वाला ईश्वर और उसकी सृष्टि में सत्य न्याय करने वाले सभासद् हैं वे 'सानुग यम' शब्दार्थ से ग्रहण होते हैं। [ओं सा०] जो सब से उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्त हैं वे सानुग वरुण शब्दार्थ से जानने चाहिए। [ओं सा०] पुण्यात्माओं को आनन्दित करनेवाला और पुण्यात्मा लोग हैं वे सानुग सोम शब्द से ग्रहण किए हैं। [ओं मरु०] जो प्राण अर्थात् जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है उनको मरुत् कहते हैं। इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिए। [ओमद्भ्यो०] इसका अर्थ शन्नोदेवी इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है। [ओं व०] जिनसे वर्षा अधिक होती है और जिनके फलादि से जगत् का उपकार होता है उनकी भी रक्षा करनी योग्य है। [ओं श्रि०] जो सबके सेवा करने योग्य परमात्मा है उसकी सेवा से राज्य श्री की प्राप्ति के लिए सदा उद्योग करना चाहिये। [ओं भ०] जो

कल्याण करने वाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है उसका सदा आश्रय करना चाहिए। [ओं ब्र०] जो वेद का स्वामी ईश्वर है उसकी प्रार्थना और उद्योग विद्या प्रचार के लिए अवश्य करना चाहिए, [ओं वा०] जो वास्तुपति गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेहारा मनुष्य अथवा ईश्वर है इनका सहाय सर्वत्र होना चाहिए [ओं वि०] इसका अर्थ कह दिया है। [ओं दि०] जो दिन में विचरने वाले प्राणियों से उपकार लेना और उनको सुख देना है सो मनुष्य जाति का ही काम है। [ओं नक्तं०] जो रात्रि में विचरनेवाले प्राणी हैं उनसे भी उपकार लेना और जो उनको सुख देना है इसलिये यह प्रयोग है। [ओं सर्वात्म०] सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना चाहिए। [ओं पि०] माता, पिता, आचार्य, अतिथि, पुत्र, भृत्यादिकों को भोजन कराके पश्चात् गृहस्थ को भोजनादि करना चाहिए। स्वाहा शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है। और नमः शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होके दूसरे का मान्य करना है। इसके पीछे के भागों को लिखते हैं॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पाप-रोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि॥

भाषार्थ

कुत्तों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिये छः भाग अलग अलग बांट के दे देना और उनकी प्रसन्नता सदा करना। यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव की विधि लिखी जाती है॥

५—अतिथि-यज्ञ

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥ स्वयमेनमभ्युदेत्याब्रूयाद्व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति। अथर्व० कां० १५। व० ११। अ० २। मं० १। २॥

भाषार्थ

अब जो पांचवां अतिथियज्ञ कहाता है उसको लिखते हैं जिसमें अतिथि की यथावत् सेवा करनी होती है जो पूर्ण विद्वान, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल-कपट रहित, नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य होते हैं उनको अतिथि कहते हैं। इसमें अनेक वैदिक मन्त्र प्रमाण हैं परन्तु यहां संक्षेप के लिए दो ही मन्त्र लिखते हैं। [तद्यस्यैवं विद्वान्०] जिसके घर में पूर्वोक्त गुणयुक्त

विद्वान् [व्रात्यः] उत्तम गुणविशिष्ट सेवा करने के योग्य अतिथि आवे जिसकी आने की कोई भी निश्चित तिथि नहीं हो अकस्मात् आवे और जावे जब ऐसा मनुष्य गृहस्थों के घर में प्राप्त हो ॥ १ ॥ [स्वयमेनम०] तब उस को गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके उत्तम आसन पर बैठा के पश्चात् पूछे कि आप को कुछ जल वा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिए, इस प्रकार उसको प्रसन्न कर और स्वयं स्वस्थचित्त होके उससे पूछे कि [व्रात्य क्वावात्सीः] हे अतिथि ! यह जल लीजिये [व्रात्य तर्पयन्तु] और हम लोग आप के सत्य प्रेम से आपको तृप्त करते हैं और सब हमारे इष्ट मित्र लोग आप के उपदेश से विज्ञानयुक्त होके सदा प्रसन्न हों [व्रात्य यथा०] हे विद्वान् ! व्रात्य जिस प्रकार से आपकी प्रसन्नता हो वैसा ही हम लोग करें। और जो पदार्थ आपको प्रिय हो उसकी आज्ञा कीजिये [व्रात्य-यथा०] जिस प्रकार से आपकी कामना पूर्ण हो वैसी आपकी सेवा हम लोग करें। जिससे आप और हम लोग परस्पर सेवा और सत्संगपूर्वक विद्यावृद्धि से सदा आनन्द में रहें ॥ २ ॥

इति

दूसरा सर्ग

नैमित्तिक यज्ञों तथा पर्वों का विवरण

नैत्यिक यज्ञों का विवरण देने के बाद अब नैमित्तिक यज्ञों और पर्वों का उल्लेख किया जाता है कि वे कौन कौन से हैं और किस किस प्रकार से मनाने चाहिये—जिन पर्वों का यहाँ उल्लेख किया जायगा वे वेही हैं, जिन्हें गत-श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी महोत्सव के अवसर पर, शताब्दी महा-सभा ने प्रत्येक वेदानुयायी के घरों में मनाया जाना, निश्चय किया था, और जो बहु-संख्यक आर्य-परिवारों में मनाये भी जाने लगे हैं:—

१—पक्ष-यज्ञ ये यज्ञ मास में दो बार पौर्ण-मासी और अमावस्या के दिन नैत्यिक अग्नि-होत्र की आहुति देने के बाद निम्न-मंत्रों से विशेष आहुतियों के देने के द्वारा किये जाया करते हैं:—

पूर्ण-मासी पूर्ण-मासेष्टि की पूर्ति निम्न आहुतियां देकर की जाती है:—(१) ओं अग्नये स्वाहा (२) ओं अग्निषोमाभ्यां स्वाहा (३) ओं विष्णवे स्वाहा—ये ३ आहुति स्थाली-पाक अथवा सामग्री आदि से देकर इन व्याहृति-मंत्रों से घृत की चार आहुतियाँ दिया करें:—

(१) ओं भूरग्नये स्वाहा।

(२) ओं भुवर्वायवे स्वाहा।

(३) ओं स्वरादित्याय स्वाहा।

(४) ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा।

अमावस्या अमावस्येष्टि के मंत्र ये हैं जिससे स्थाली-पाकादि की आहुति दी जाती है:—(१) ओं अग्नये स्वाहा (२) ओं इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा (२) ओं विष्णवे स्वाहा।

इनके बाद ४ घृताहुति व्याहृति-मन्त्रों से उपर्युक्त भांति दी जाती हैं।

उपर्युक्त पक्ष के यज्ञ के बाद अब पर्वों तथा उनकी

पद्धति का, कि किस प्रकार से वे मनाने चाहिये, उल्लेख किया जाता है:—

१ नव संवत्सरोत्सवः (संवत्सरेष्टि)

चैत्र सुदी प्रतिपदा अथवा मेष-संक्रांति

पद्धति

गृह्य-कृत्य—प्रातः सामान्य पर्व-पद्धति में प्रदर्शित विधानानुसार गृह के परिमार्जन, शोधन, लेपनादि के पश्चात् नवीन शुद्ध स्वदेशीय वस्त्र परिधान-पूर्वक, सपरिवार सामान्य होम करके निम्न-लिखित संवत्सर-वर्णन-परक मंत्रों से विशेष अधिक आहुतियाँ दी जायें।

(१) ओं संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसि वत्सरोऽसि उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पंता संवत्सरस्ते कल्पन्ताम्। प्रेत्या एत्यै सञ्चाञ्च प्र च सारय सुपर्णचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद ॥ यजु० अ० २७, मंत्र ४५ ॥

(२) ओं यमाय यमसूमथर्वभ्योऽवतोका संवत्सराय पर्य्यायिणीं परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं वत्सराय विजर्जरां संवत्सराय पलिक्नीमृभुभ्योऽजिनसन्धं साध्येभ्यश्चर्मम्नम् ॥ यजु० अ० ३० मं० १५ ॥

(३) ओं द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥
ऋ० म० १, सू० १६४, मं० ४८ ॥

(४) ओं सप्त युञ्जन्ति रथमेकं चक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनामा चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः ॥
ऋ० म० १, सू० १६४, मं २ ॥

(५) ओं द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥

(६) ओं पञ्च पादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुःपरे अर्द्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्त चक्रे षलर आहुरर्पितम् ॥

(७) ओं पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥

(८) ओं सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानाया दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥
ऋ० मं १, सू० १६४, मं०११, १२, १३,१४ ॥

(९) ओं संवत्सरस्य प्रतिमयात्वा रात्र्युपास्महे सा न आयुष्मती प्रजा रायस्पोषेण संसृजः ॥ अथर्व० ३ । ६ । १ ॥

(१०) ओं यस्मान्मासा निर्मितास्त्रींशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः । अहोरात्रि यं परियन्तो नापुस्ते नौदनेनातितराणि मृत्युम् ॥
अथर्व० ४।३५।४ ॥

मध्याह्न में स्वसामर्थ्यानुसार सात्विक और रोचक पाक सम्पन्न करके सब परिवार प्रीति-पूर्वक एकत्र मिल कर भोजन करे तथा अपने आश्रित सेवक आदिकों को भी उससे सत्कृत किया जाये ।

२. आर्य-समाज का स्थापना-दिवस

सरस्वती पंचमी (चैत्र सुदि)

पद्धति

आर्य-समाज का स्थापना-दिन और सरस्वती-पूजा दोनों पर्व एक ही तिथि चैत्र सुदि ५ को पड़ते हैं, इसलिए इन दोनों पर्वों की पद्धति एकत्र ही लिखी जाती है :—

गृह्य-कृत्य—प्रातः सामान्य पर्व पद्धति में पूर्व-प्रदर्शित विधानानुसार गृह के परिमार्जन शोधन, लेपनादि के पश्चात् नवीन शुद्ध स्वदेशीय वस्त्र परिधान-पूर्वक सपरिवार सामान्य होम करके निम्न-लिखित सरस्वती-स्तुति-परक मंत्रों से विशेष अधिक आहुतियाँ देवें :—

(१) ओं पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टुधिया वसुः ॥ मं० १, अनु० १, सू० ५, मं० १०॥

(२) ओंचोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ मं० १, अनु० १, सू० ५, मं० ११॥

(३) ओं महो अर्णः सरस्वती पचेतयति केतुना ।
धियो विश्वा विराजति ॥ मं० १, अनु० १, सू० ५, मं० १२॥

(४) ओं इट्ला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः ।
बर्हिः सीदन्तु अस्रिधः ॥ ऋ० म० १, सू० १२, मं० ६॥

(५) ओं पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात् ग्नाभिरच्छिद्रं शरणम् ॥

३. श्रीराम-नवमी

वा

श्रीराम-जयन्ती

चैत्र सुदि नवमी

पद्धति

गृह्य कृत्य—प्रातः सामान्य पर्व-पद्धति में प्रदर्शित विधानानुसार गृह के परिमार्जन, शोधन, लेपनादि के पश्चात् नवीन शुद्ध स्वदेशीय वस्त्र परिधान-पूर्वक सपरिवार सामान्य हवन होना चाहिये। मध्याह्न में स्वसामर्थ्यानुसार सात्विक और रोचक पाक सम्पन्न करके सपरिवार प्रीति-पूर्वक एकत्र मिलकर भोजन करें तथा अपने आश्रित सेवकों आदि को भी उससे सत्कृत करें।

सामाजिककृत्यअपराह्ण वा सायंकाल में स्वसुभीते के अनुसार सब आर्य-सामाजिक पुरुष समाज-मन्दिर आदि में एकत्र होकर सभा करें।

उसमें प्रथम वेद-मंत्रों द्वारा परमेश्वर-प्रार्थना के पश्चात् श्रीरामचन्द्र के इतिहास और गुणावलि पर निबन्ध और कविता-पाठ तथा भाषण होने चाहियें। तदन्तर उसी विषय पर मधुर गान-वाद्य और वैदिक शांति-पाठ के पश्चात् सभा विसर्जित की जाय।

४. हरि-तृतीया (हरियाली तीजो)

श्रावण सुदि तृतिया

गृह्यकृत्य—प्रातः सामान्य पर्व-पद्धति में उल्लिखित विधानानुसार प्रत्येक परिवार में गृह-मार्जन, लेपन के अनन्तर सामान्य होम होना चाहिये। मध्याह्न में प्राचीन प्रथानुसार स्वादु पक्वान्न बनाकर उनके वायनक (बानगी) बड़ी-बूढ़ियों को भेंट किये जायँ। इससे वृद्धा-पूजा के प्रचार की परिपुष्टि, विनय-भाव को दृढ़ता और छोटियों के प्रति बड़ी-बूढ़ियों के स्नेह की वृद्धि होती है। सायंकाल को सब सखी-सहेलियाँ मिलकर संगीत और झूला-झूलने का आनन्द उठायें।

५. श्रावणी उपाकर्म

(श्रावण सुदि पूर्णिमा)

ऋषि-तर्पण

गृह्य-पद्धति नीचे पारस्कर गृह्य-सूत्रानुसार उपाकर्म की विधि लिखी जाती है। प्रथम संस्कार विधि में लिखी हुई रीतियों से अग्नि-स्थापनादि करके आघार और आज्य भागाहुतियों को देकर (१) ओं ब्रह्मणे स्वाहा (२) ओं

छन्दोभ्यः स्वाहा—ये दो आहुतियां देकर, निम्न-लिखित घी की दश आहुति दें। (१) ओं सावित्र्यै स्वाहा (२) ओं ब्रह्मणे स्वाहा (३) ओं श्रद्धायै स्वाहा (४) ओं मेधायै स्वाहा (५) ओं प्रज्ञायै स्वाहा (६) ओं धारणायै स्वाहा (७) ओं सदसस्पतये स्वाहा (८) ओं अनुमतये स्वाहा (९)ओं छन्दोभ्यः स्वाहा (१०) ओं ऋषिभ्यः स्वाहा ।

तदनन्तर निम्नलिखित ऋग्वेद की ११ ऋचाओं से आहुति दें ।

ओं अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारंरत्नधातमम् ॥१॥

ओ कुपुम्भकस्तदब्रवीद गिरेः प्रवर्तमानकः ।
वृश्चिकस्यारसं वृश्चिक ते विषम् ।'२॥

ओ आन्रदँस्त्वॅ शकुने भद्रमावद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धिनः।
यदुत्पतन्वनसि कर्करिर्यथा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ।.६॥

ओं गृणाना जमदग्नि ना याना वृतस्य सीदतम् ।
पातं सोमसृता बुधाः ॥४॥

ओं धामन्ते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि ।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्यामधुमन्तं त ऊर्मिम ॥५॥

ओं गन्ता नो यज्ञं यज्ञियाः सुशर्मि श्रोता हवमरक्ष एवया मरुत् ।
ज्येष्ठा सो न पर्वतासो व्योमनि यूयं तस्य प्रचेतसः स्य.त् दुर्धर्तं यो निदः ॥६॥

ओ यो नः स्वो अरणो यश्च निष्टयो जिघासति ।
देवास्तं सर्वे धूर्यन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥७॥
ओं प्रति चक्ष्व विचक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ऋ० मं० ७, अन्तिम म० ८॥
ओं अग्ने याहि मरुतमग्ना रुद्रेभिः सोमपीतये ।
सोभर्या उपसुष्टुतिं मादयस्व स्वर्णरे ॥६॥
ओ यत्तेराज शृतं हविस्तेन सोमाभिरक्ष नः ।
अरातीवा मानस्तारीन्मोच नः किंचनाममदिन्द्रायेन्द्रो परिस्रव ॥१०॥
ओं समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥११॥
ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषं स्वाहा ॥ यजु० अ० ३२, मं० १३ ।

यजमान वा गृह-पति हवन करे, किन्तु मंत्र सब बोलें। पश्चात् सब उपस्थित पारिवारिक जन पलाश को तीन २ हरी समिधाओं को घी से भिगो कर सावित्री मन्त्र से आहुति दें। इस प्रकार तीन बार करें। पुनः स्विष्टकृदाहुति देकर प्रातराश किया जाये "शन्नोमित्रः" इस मन्त्र को पढ़कर। उसके पश्चात् मुँह धोकर आचमन करके अपने अपने आसनों पर बैठ कर, जल-पात्रों में कुशाओं को रख कर, हाथ जोड़ कर, ब्रह्मा वा पुरोहित के साथ तीन बार

ओङ्कार व्याहृति-पूर्वक पावित्री पढ़ें कर वेदों के निम्न-लिखित मंत्र पढ़ें ।

ऋग्वेद: —

ओं अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं । होतारं रत्नधातमम् ॥

ओं समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वं सुसहासति ॥

यजुर्वेद :—

ओं इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघश ँ् सो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात् बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥

ओं हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥

सामवेद :—

ओं अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।

निहोता सत्सि बर्हिषि ॥

ओं मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः ।

सृकंसंशाय पविमिन्द्र तिग्मं विशत्रून्ताढि विमृधो नुदस्व ॥

ओं भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरंगैस्तुष्टुवा ँ् सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितःयदायुः ॥

ओं स्वस्ति नं इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

अथर्ववेद :—

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंयोरभिस्रवन्तु नः ।।

ओं पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः ।

सहस्रशंसा ऊतये गविष्ठौ, सर्वाम् इत ताम् उपयाता पिबध्यै ।।

पश्चात् यह मन्त्र पढ़ें :—

ओं सहनोऽस्तु सहनोवतु, सह न इदं वीर्य्यं वदस्तु ।

ब्रह्मा इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामहे ।।

इस वेद-मंत्र को पढ़कर सामवेद का वाम-देव्य-गान करें ।

श्री कृष्ण-जन्माष्टमी

पद्धति

श्री कृष्ण-जन्माष्टमी के गृह्य तथा सामाजिक कृत्य भी श्री राम-जयन्ती में लिखित विवरण के अनुसार ही हैं । अर्थात् सामान्य प्रकरण के पश्चात् निम्नलिखित मंत्रों से आहुति देवें :—

(१) ओ३म् ओनो ऽस्योजोमयि धेहि स्वाहा ।

(२) ओ३म् सहोऽसि सहो मयि धेहि स्वाहा ।

(३) ओ३म् बलमसि बलं मयि धेहि स्वाहा ।

और जिस मल्ल-युद्ध कला (कुश्ती) में श्री कृष्ण सर्वोपरि सिद्धहस्त और पारङ्गत थे, उनके स्मारक में कुश्ती किया जाय। अखाड़ों में मल्ल-कला के कौशल दिखलाये जायँ।

विजया दशमी

आश्विन सुदी दशमी

पद्धति

स्वस्य-सुभीते के अनुसार विजया दशमी के प्रातःकाल शस्त्र और वाहनादि का संस्कार (स्वच्छता और सुधार) किया जाय। पूर्वाह्ण में अन्य पर्वों के समान गृह का परिमार्जन और लेपनादि करके सामान्य होम किया जाय उससे क्षात्र धर्म के द्योतक और यात्रा से लाभ के सूचक निम्न-लिखित मन्त्रों से विशेष आहुतियाँ दी जायँ। इस अवसर पर संस्कृत अस्त्र और परिष्कृत उपकरण भी यज्ञ-स्थल में उपस्थित किए जायँ।

(१) ओं संशितं म इदं ब्रह्म संशित वीर्यं बलम्। संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्र्येषामस्मि पुरोहितः स्वाहा ॥ १ ॥

(२) ओं समह येषां राष्ट्रं स्यामि समोजोवीर्यं बलम्। वृश्चामिशत्रूणां बाहुनेन हविषाहम् ॥ स्वाहा ॥ २ ॥

(३) ओं नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानम् पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ स्वाहा ॥ ३ ॥

(४) ओं तीक्ष्णीयासः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रा तीक्ष्णीयासो येषामस्मि पुरोहितः ॥ स्वाहा ॥ ४ ॥

(५) ओं एषा मह्मा सुधा सस्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषा क्षत्रमजरमस्तुजिष्णवेषा चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥स्वाहा ॥५॥

(६) ओं उद्धर्षन्ता मघवन्वाजिनान्युद्वीराणा जयतामेतु घोषः ।
पृथग्घोषा उलुलय केतुमन्त उदीरताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुते यन्तु सेनया ॥ स्वाहा ॥ ६ ॥

(७) ओं प्रेता जयता नर उग्राव: सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोऽवलधन्वनो हतोग्रायुधा अबला नुग्रवाहवः ॥ स्वाहा ॥७॥

(८) ओ अवसृष्टा परापत शन्ये ब्रह्म संशिते ।
जय मित्रान् प्रपद्यस्व जह्येषा वरं वरं मामीषां मोचि कश्चन ॥
स्वाहा ॥ ८ ॥ अथ०. कां० ३. सू० १६, मं० १--८॥

(६) ओ ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च ।
असीन्पर शूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धदि ।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदाराश्च प्रदर्शय ॥ स्वाहा ॥१॥

(१०) ओ उत्तिष्ठत सानह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
स दृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥ स्वाहा ॥२॥

(११) ओं उत्तिष्ठतमारभेथा आदान सादानाभ्याम् ।
अमित्राणां सेनाअभिधत्तमर्बुदे ॥स्वाहा॥३॥अर्थ० कां० ११,म०१-३

मध्याह्न में स्वादु और सात्विक व्यञ्जनों से भोजन-शाला की श्री-वृद्धि होनी चाहिये। आज के दिन लौकी के रायते के आहार की प्रथा है ऋतु के नव-भोज्य के द्रव्य के समादर के रूप में समुचित ही है।

सायं-काल का सब इष्ट-मित्रों को मिलकर नव वेश-भूषा और शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर अपने-अपने वाहनों या पैदल बस्ती के बाहर कुछ दूर तक यात्रा करनी चाहिये इस अवसर पर खड्ग-सञ्चालन, लक्ष्यवेध तथा गदका-फरी आदि शस्त्राभ्यास कौतुकों का प्रदर्शन होना चाहिये। बलविक्रम-हीन आर्य-जाति में इस समय शक्ति-सञ्चय और शौर्य सञ्चार की बड़ी आवश्यकता है। विजया दशमी के अवसर पर जो राम-लीला के अभिनय यत्र-तत्र होते हैं उनका सुधार भी अपेक्षित है। यदि आर्य-पुरुषों के प्रभाव और प्रयत्न से उनको उपयोगी और यथार्थ रूप दिया जा सके तो इसके लिये भी अवश्य उद्योग होना चाहिये।

शारदीय नवसस्येष्टि (दीपावली)

श्रीमद्दयानन्द निर्वाणोत्सव

पद्धति

गृह-कृत्य—यतः दिवाली का पर्व वर्ष-भर में घरों की लिपाई पुताई आदि संस्कार के लिए विशेषतः उद्दिष्ट

है, इस लिये स्वसुभीते के अनुसार दिवाली से पूर्व दिन के सायं-काल तक प्रचलित प्रथानुसार यह सब कार्य्य समाप्त हो जाना चाहिये। कार्तिकी अमावस्या के दिन प्रातःकाल सामान्य पर्व-पद्धति में प्रदर्शित प्रकारानुसार यज्ञ-शाला वा आवास-गृह में तल का गोमय से पुनः लेपन करके स्वदेशीय नवीन शुद्ध-वस्त्र परिधान-पूर्वक सामान्य होम करके दयानन्द-निर्वाण तथा नवसस्येष्टि के निम्न-लिखित मंत्रों से स्थालीपाक से ३८ विशेष आहुतियां दी जावें। स्थाली-पाक नवागत श्रावणी सस्य के अन्न से बनाया गया पायस (खीर) हो। हवन के अन्य साकल्य में लाजा (नवीन धानों की खील) विशेषतः मिलाई जावें।

दयानन्द-निर्वाण आहुतियाँ।

(१) ओं परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥
स्वाहा॥

(२) ओं मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भव यज्ञियासः॥स्वाहा॥

(३) ओं इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥स्वाहा॥

(४) ओं इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।

शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ स्वाहा ॥

(५) ओं यथा हान्यनुपूर्वं भवन्ति यथा ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातारायूंषि कल्पयैषाम् ॥ स्वाहा ॥
ऋ० मं० १०, सू० १८, म० १-५ ॥

(६) ओं आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन प्राणेन जीव मा मृथाः ।
अहं सर्वेण पाप्मना वियद्मेण समायुषा ॥ स्वाहा ॥
अथ० कां० ३, सू० ३१, मं ८ ॥

(७) ओं ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरा भरत ॥ स्वाहा ॥
अथ० कां० ११, सू० ५, मं० १६ ॥

नवसस्येष्टि आहुतियाँ

(८) ओं शतायुधाय शतवीर्याय शतोतयेभिमातिषाहे ।
शतं योनः शरदो अजीजादिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा ॥स्वाहा ॥

(९) ओं ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावा पृथिवी वियन्ति ।
तेषां यो अज्यानि मजीजिमावहास्तस्मै नो देवः परिदत्तेह सर्वे ॥
स्वाहा ॥

(१०) ओं ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद्वर्षाः सुवितन्नो अस्तु ।
तेषामृतूना शतं शारदानां निवात एषामभये स्याम ॥
स्वाहा ॥

(११) ओं इद्वत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानां ज्योग् जीता अहताः स्याम ॥

स्वाहा ॥ (म० ब्रा० २, १, ६–११) गोभिलीय-गृह्यसूत्र, प्रपाठक ३, खंड ७, सूत्र १०–११ ॥

(१२) ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः।
तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ॥

(१३) ओं यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहपन्।
तन्मे सर्वꣳ समृध्यता जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा ॥

(१४) ओं सम्पतिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय इदन्न मम ॥

(१५) ओं यस्याभावे वैदिक लौकिकाना भूतिर्भवति कर्मणाम्।
इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि कर्मणि स्वाहा ॥ इदमिन्द्रपत्न्यै, इदन्न मम।

(१६) ओं अश्वावती गोमती सूनृतावती विभर्ति या प्राणभृतो अतिन्द्रिता। खलामालिनी मुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा ॥ इदं सीतायै इदन्न मम।

(१७) ओं सीतायै स्वाहा।

(१८) ओं प्रयायै स्वाहा।

(१९) ओं शमायै स्वाहा।

(२०) ओं भूत्यै स्वाहा।

(२१) ओं व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ स्वाहा ॥ यजु० अध्याय १८, मन्त्र १२॥

(२२) ओं वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः।
वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाता वितावतु ॥ स्वाहा ॥

(२३) ओं वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवां २ ॥ ऋतुभिः कल्पयाति वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपति-र्जयेयम् ॥ स्वाहा ॥

(२४) ओं वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्धयाति।
वाजोहि मा सर्ववीरं चकार सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥स्वाहा।

यजु० अ० १८, मन्त्र ३२, ३३, ३४ ॥

(२५) ओं सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्।
वीरा देवेषु सुम्नयो ॥ स्वाहा ॥

(२६) ओं युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।
विराजः श्रुष्टिःसभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यःपक्वमा यवन् ॥स्वाहा॥

(२७) ओं लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु। उदिद्वपति गामविं प्रस्थावद्रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥ स्वाहा ॥

(२८) ओं इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषाभिरक्षतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ स्वाहा ॥

(२९) ओं शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनुयन्तु वाहान्।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै॥स्वाहा॥

(३०) ओं शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय स्वाहा ॥

(३१) ओं शुनासीरेहस्म मे जुषेथाम्।

यद्दिवि चक्रथुः प्रयस्तेनेमामुपसिञ्चत ॥ स्वाहा ॥

(३२) ओं सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथानः सुमना असो यथा न सुफला भुवः ॥ स्वाहा ॥

(३३) ओं घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा न सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत्पिन्वमाना ॥ स्वाहा ॥

(३४) ओं इन्द्राग्निभ्यां स्वाहा । इदमिन्द्राग्निभ्या इदन्न मम ॥

(३५) ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । इदं विश्वेभ्यो देवेभ्य इदन्न मम ॥

(३६) ओं द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा । इद द्यावापृथिवीभ्यां इदन्न मम ॥

(३७) ओ स्विष्टमग्ने अभितत्पृणीहि विश्वाश्च देवः पृतना अभिष्यक् ।
सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्ध्येह्यजरं न आयुः । स्वाहा ।

(३८) ओं यदस्य कर्मणोत्यरीरिचयद्वा न्यूनमिहा करम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्ट सुहुत करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नःकामान्त्समर्द्धय स्वाहा । इदमग्नये स्विष्टकृते इदन्न मम ॥

पूर्णाहुति के पश्चात् खीलों और मिष्टान्न के हुत-शेष का भक्षण किया जाये ।

अपराह्ण में प्रचलित प्रथानुसार इष्ट-मित्रों को मिष्टान्न के उपादान दिए जायँ। सायंकाल के समय आवास गृहों को सुचारु रूपेण सजा कर स्वसामर्थ्यानुसार दीपमाला की जाये ।

सामाजिक-कृत्य—अपराह्न वा रात्रि में सुभीते के अनुसार समाज-मन्दिर आदि में एकत्र होकर आर्य्य-समाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द की स्मृति में सभा की जाये और उस में ऋषि के गुणानुवाद पर भाषण, लेख और कविताओं का पाठ किया जाये। तथा इसी विषय पर मधुर संगीत हो। इस अवसर पर दयानन्द मिशन-फंड के लिये।) वा ~) प्रत्येक पुरुष दान देवे।

६. मकर सौर संक्राति

पद्धति

गृह्य-कृत्य—मकर संक्रान्ति के दिन प्रातः सामान्य-पर्व-पद्धति में प्रदर्शित विधानानुसार गृह के परिमार्जन शोधन तथा लेपन आदि के पश्चात् नवीन शुद्ध स्वदेशीय वस्त्र परिधान-पूर्वक, सपरिवार सामान्य हवन करें, जिस के साकल्य में तिल और शर्करा का परिमाण प्रचुर होना चाहिये और आहुतियां की मात्रा स्वसामर्थ्यानुसार बढ़ी होनी चाहिये। निम्न-लिखित हेमन्त और शिशिर ऋतुओं के वर्णन-परक ऋचाओं से विशेष आहुतियाँ दी जायँ।

ओं सहश्च सहस्यश्च हेमन्तिकावृतू ॥ स्वाहा ॥

ओं अग्नेरन्तः श्लेशोसि कल्पेताम् ॥स्वाहा ॥

ओं द्यावा पृथिवी कल्पन्ताम् ॥ स्वाहा ॥

ओं आप ओषधयः कल्पन्ताम् ॥ स्वाहा ॥

ओं अग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ॥ स्वाहा ॥

ओं ये अग्नयः समानसोऽन्तरा द्यावा पृथिवी इमे हेमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशंतु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदताम् ॥ स्वाहा ॥ यजु० अ० १४, मं० २७ ॥

ओं तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू ॥ स्वाहा ॥

ओं अग्नेरन्तः श्लेसोऽसि कल्पेताम् ॥ स्वाहा ॥

ओं द्यावा पृथिवी कल्पताम् ॥ स्वाहा ॥

ओं अग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठयाय सव्रताः ॥ स्वाहा ॥

ओं ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावा पृथिवी इमे हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तयादेवतया ऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदताम् ॥ स्वाहा ॥ यजु० अ० १५, मं० ५७ ॥

तत्पश्चात् तिल के लड्डू (तिलवे) होम यज्ञ में समागत पुरुषों को हुत-शेष के रूप में समर्पण किये जांय और स्ववित्तानुसार कम्बल सहित दीन दुःखियों को दान दिए जांय।

सामाजिक कृत्य—अपराह्न में सब आर्य-सामाजिक पुरुष किसी प्रशस्त क्षेत्र में एकत्रित होकर दण्ड, बैठक,

रस्सा खेंचना आदि के व्यायामों का प्रदर्शन करके उत्सव के आनन्द की वृद्धि करें।

१० वसन्त पञ्चमी

माघ सुदि पंचमी

पद्धति

गृह-कृत्य—प्रातःकाल सामान्य पर्वपद्धति में प्रदर्शित प्रकारानुसार गृह के परिमार्जन के पश्चात् स्वदेशीय पीताम्बर परिधान-पूर्वक सपरिवार सामान्य होम करके वसन्त-वर्णनात्मक निम्नलिखित मन्त्रों से केशर-मिश्रित हलुए के स्थाली पाक से पांच अधिक आहुतियां दी जांय।

(१) ओं वसन्ते ऋतुना देवा वमवस्त्रिवृता स्तुताः। रथन्तरेण तेजसाः हविरिन्द्रे वयो दधुः। यजु० अ० २१, मं० २३ ॥

(२) ओं मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावा पृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावा पृथिवी इमे वासन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥स्वाहा॥

यजु० अ० १३, मं० २५॥

(३) ओ मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ स्वाहा ॥

(४) ओं नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिव ँ रजः। मधुद्यौरस्तु नः पिता ॥
स्वाहा ॥

(५) ओं मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमा २ ॥ अस्तु सूर्यः, माध्वीर्गावो
भवन्तु नः ॥ स्वाहा ॥ यजु० अ० १३, म० २७--२६ ॥

और उपर्युक्त केशराक्त हलुवे का ही हुत-शेष यज्ञ में समागत सज्जन प्रसाद-रूप से भोजन करें तथा ऋतुराज के वर्णन परक किसी कविता का मधुर गान किया जाय।

सामाजिक कृत्य—पूर्वाह्न वा अपराह्न में सब सामाजिक सज्जन समूह रूप से सम्मिलित होकर उपवन वा कुसुमोद्यान में भ्रमण करें और वहीं सभा करके वसन्त-वर्णन परक कविता-पाठ और संगीत का आनन्द उठायें।

इसी अवसर पर बालकों की क्रीड़ाओं के प्रदर्शन और फलों के सहभोज की आयोजना की जाये तो अत्युत्तम है।

११. सीताष्टमी (जानकी-जन्म-दिन)

फाल्गुन वदि अष्टमी

पद्धति

सामान्य प्रकरण की पद्धति के पश्चात् निम्न-लिखित मंत्रों द्वारा २ आहुतियां अधिक दी जायें।

(१) ओं अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समंजसम्।
अन्तः कृणुष्वः मा हृदि मन इन्नो सहासति ॥

(२) ओं अभित्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।
यथा सो मम केवलो नान्यासा कीर्तयश्चन ॥

इस पर्व का प्रबन्ध देवियों के हाथ में होना चाहिये और कन्याओं को बालोद्यनादि मनोरंजक क्रीड़ाओं को आयोजना होनी चाहिए।

---

१२. दयानन्द-जन्म-दिन

वा

दयानन्द-बोध-रात्रि

फाल्गुन वदि १४

पद्धति—इसकी पद्धति भी अन्य वीर पर्वों और जयन्तियों के गृह्य और सामाजिक कृत्यों के अनुसार है।

इस तिथि को आर्य-सामाजिक पुरुष सात्त्विक स्वल्पाहार करें तो अत्युत्तम है। सायंकालीन सभा में भाषणों और संगीत द्वारा महर्षि दयानन्द का गुणानुवाद होना चाहिए।

मध्याह्नोत्तर काल में भांति २ के व्यायाम-सम्बन्धी खेल होने चाहियें और साम्मुख्य में जो विजयी हों उन्हें उचित पारितोषिक देना चाहिये।

---

१३. श्री लेखराम वीर-तृतीया

फाल्गुन सुदि तृतीया

पद्धति—वीर-तृतीया-पर्व की पद्धति भी अन्य वीर पर्वों के गृह्य और सामाजिक कृत्यों के अनुसार ही है। इस अवसर पर धर्मवीर की गुणावली के उत्साह-वर्धक वीर छन्दोमय के गायन और धर्म पर बलिदान हुये अन्य धर्मवीरों के गुणानुवाद के अनन्तर लेखराम मेमोरियल-फंड की पूर्ति के लिये अपील होनी चाहिये।

---

१४. वासन्ती (आसाढ़ी) नवसस्येष्टि

(होलिकोत्सव)

फाल्गुन सुदि पूर्णिमा

पद्धति

होलिका पर्व भी दिवाली के समान महासे' की वृष्टि के पश्चात् गृहों के परिमार्जन तथा संस्कार के लिए भी उद्दिष्ट है। इसलिए फाल्गुन सुदि चतुर्दशी के सायं-काल तक यह सब कृत्य समाप्त हो जाना चाहिए। फाल्गुन-पूर्णिमा के प्रातः सामान्य पद्धति में प्रदर्शित प्रकारानुसार नव-पीताम्बर वा श्वेताम्बर परिधान-पूर्वक सामान्य-होम करके नव-सस्येष्टि के निम्न-लिखित मंत्रों से स्थाली पाक की ३१ विशेष आहुतियाँ दी जायँ। स्थालीपाक नवागत आसाढ़ी सस्य गोधूम वा यव-चूर्ण से बनाया गया मोहनभोग हो। हवन के अन्य साकल्य में नवागत यव विशेषतः मिलाये जायँ। यतः देव-यज्ञ देव-कार्य है और कर्म-कांड के सब ग्रन्थों में देव-कार्य को पूर्वाह्न में ही करने का विधान है, इसलिए यह आसाढ़ी नव-सस्येष्टि व होलिकेष्टि भी पूर्वाह्न में ही करनी चाहिए।

पौराणिकों का पूर्ण-मासी की रात्रि को होली जलाने का कृत्य कर्मकांड-शास्त्र के विरुद्ध है।

मंत्र आहुतियों के मंत्र ये हैं :—

(१) ओं शतायुधाय शतवीर्याय शतोतयेभिमातिषाहे।
शतं यो नः शरदो अजीजादिन्द्रो नेषदति दुरितानी विश्वा॥ स्वाहा॥

(२) ओं ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावा पृथिवी वियन्ति।
तेषां यो अज्यानि मजीजिमावहास्तस्मै नो देवाः परिदत्ते ह सर्वे॥
स्वाहा॥

(३) ओं ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद्वर्षाः सुवितन्नो अस्तु।
तेषामृतूनाँ शतशारदाना निवात एषामभये स्याम॥ स्वाहा॥

(४) ओं इद्वत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणु ता बृहन्नमः।
तेषां वयँ सुमतौ यज्ञियानां ज्योग् जीता अहताः स्याम॥
स्वाहा॥ (म० ब्रा० २, १, ९-१२) गोभिलीय गृह्य-सूत्र, प्रपाठक ३, खण्ड, ७, सूत्र १०, ११॥

(५) आ पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः।
तामिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः॥ स्वाहा॥

(६) ओं यन्मे किंचिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन्।
तन्मे सर्वं समृध्यतां जीवतः शरदः शतं॥ स्वाहा॥

(७) ओं सम्पतिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यँ श्रैष्ठ्यँ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा॥ इदमिन्द्राय इदन्न मम॥

(८) ओं यस्या भावे वैदिक-लौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम्।
इन्द्र-पत्नीमुपह्वये सीता ँ सा मे त्वनपायिनी भूयात् कर्मणि
कर्मणि स्वाहा ॥ इदमिन्द्रपत्न्यै इदन्न मम ॥

(९) ओं अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता।
खलामामिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवा ँ सा त्वनपायिनी
भूयात् स्वाहा । इदं सीतायै इदन्न मम ॥

(१०) ओं सीतायै स्वाहा ॥

(११) ओं प्रजायै स्वाहा ॥

(१२) ओं शमायै स्वाहा ॥

(१३) ओं भूत्यै स्वाहा ॥

(१४) ओं व्रीहयश्च मे यवाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे
प्रियङ्गवश्च मे ऽणवश्चमे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्चमे गोधूमाश्च
मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ स्वाहा ॥ यजु० अ० १८,
मं० १२ ॥

(१५) ओं वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः ।
वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु ॥ स्वाहा ॥

(१६) ओं वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवा २ ॥
ऋतुभिः कल्पयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा
वाजपतिर्जयेयम् ॥ स्वाहा ॥

(१७) ओं वाजः पुरस्तादुतमध्यतो नो वजो देवान् हविषा वर्धयाति ।
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥
स्वाहा ॥ यजु० अ० १८, मं० ३२, ३३, ३४॥

(१८) ओं सीरा युञ्जति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ स्वाहा ॥

(१६) ओं युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराज : श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्य : पक्व मा यवन् ॥
स्वाहा ॥

(२०) ओं लाङ्गलं पवीरवत्सु शोमं सोम सत्सरु ।
उदिद्वपतु गामवि प्रस्थावद्रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥ स्वाहा ॥

(२१) ओ इन्द्रः सीता निगृह्णातु ता पूषाभिरक्षतु ।
सा न : पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ स्वाहा ॥

(२२) ओं शुनं सुफाला वितुदंतु भूमिं शुनं कीनाशा अनुयंतु वाहान् ।
शुना सीरा हविषा तोषमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥
स्वाहा ॥

(२३) ओं शुनं वाहा : शुनं नर : शुनं कृषतु लागलम् ।
शुनं वस्त्रा बध्यंता शुनमष्ट्रामुदिगय ॥ स्वाहा ॥

(२४) ओं शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेन मामुपसिंचतम् ॥ स्वाहा ॥

(२५) ओं सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा न सुफला भुव : ॥ स्वाहा ॥

(२६) ओं घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सानः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वी घृतवत्पिन्वमाना ॥ स्वाहा ॥

(२७) ओं इन्द्राग्निभ्यां स्वाहा ॥ इदमिन्द्राग्निभ्याम् इदन्न मम ॥

(२८) ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यःस्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यःइदन्न मम ॥

(२९) ओं द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ इदं द्यावापृथिवीभ्याम् इदन्नमम ॥

(३०) ओं स्विष्टमग्ने अभितत्पृणीहि विश्वांश्च देवः पृतना अभिष्यक् सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्धह्यजरं न आयुः स्वाहा ॥

(३१) ओं यदस्य कर्मणोत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् ।

अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुत हुते सर्व प्रायश्चिताहुतीनां कामाना समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा । इदमग्नये स्विष्टकृते इदन्नमम ॥

पूर्णाहुति के पश्चात् हुत शेष हलुवे को वितरण करके भक्षण किया जाय । अपराह्ण में आर्य्यसमाज-मंदिर आदि में सम्मिलित होकर हर्षोत्सव और प्रीति-सम्मेलन किया जाय । उससे पूर्व आर्य पुरुष आर्य बन्धुओं के घरों पर जाकर उनसे प्रेम संवर्धनार्थ भेंट करें और उनके मध्य में किसी प्रकार का मनोमालिन्य हो, तो उसको भी उदारता पूर्वक परस्पर क्षमा-याचना और क्षमा-प्रदान द्वारा दूर कर देवें और वहाँ से मिल मिलकर स्वच्छ और प्रेम-पूर्ण हृदय से युक्त होकर समाज-मन्दिर के उत्सव में पधारते रहें । इस हर्षोत्सव में सरल प्रीति भोज, ताम्बूल वितरण, गुलाब-जल सिंचन वा कुसुम सार (इतर) संयोजन का आयोजन होना चाहिए । सुमधुर गीत वाद्य

का भी अवश्य प्रबन्ध किया जाय। उसमें उत्तमोत्तम उपदेश-प्रद "होली" आदि सुन्दर पद्य गाए जायें। भारत की संगीत-कला की उन्नति एवं विध उत्सवों द्वारा ही हो सकती है। संगीत से ही उत्सवों की अन्वर्थ उत्सवता स्थिर रह सकती है।

तीसरा सर्ग

संस्कार

गृहस्थाश्रम से संतान का प्रादुर्भूत होता है और संस्कारों से उसे संस्कृत और श्रेष्ठ बनाया जाता है। विवाह के बाद, गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित संस्कार १२ हैं :—

(१) गर्भाधान (२) पुंसवन (३) सीमन्तोन्नयन (४) जात-कर्म (५) नाम-करण (६) निष्क्रमण (७) अन्न-प्राशन (८) चूड़ाकर्म (६) कर्ण-वेध (१०) उपनयन (११) वेदारम्भ (१२) समावर्तन।

इन संस्कारों से बालक संस्कृत किया जाता है और उसे श्रेष्ठ मनुष्य बनने में इनसे सहायता मिलती है। संस्कार किस प्रकार किये जाते हैं और प्रत्येक संस्कार की उपयोगिता क्या है ? इन सब बातों के जानने के लिए ऋषि दयानन्द-कृत संस्कार-विधि को देखना

चाहिये—संस्कारों के सम्बन्ध में वह प्रामाणिक ग्रंथ है। इसलिए संस्कारों के सम्बन्ध में अधिक न लिखकर केवल गर्भाधान-संस्कार से सम्बन्धित कुछ-एक बातों की यहां चर्चा की जावेगी:—१. सबसे पहली बात यह है कि इस संस्कार के करने से पहले पति और पत्नी को उसके करने की तैयारी करनी चाहिए। इस तैयारी में निम्न बातों का समावेश है:—

(क) उन्हें देखना चाहिए कि वे दोनों अच्छे हृष्ट-पुष्ट हैं, यदि न हों, तो उन्हें पहले इसी कमी को दूर करना चाहिए। यदि पत्नी निर्बला हुई, तो बच्चे के लिए उससे दूध मिलना भी मुश्किल हो जायेगा और सभी जानते हैं कि दूध न मिलने से बच्चे के जीवन के लाले पड़ जाते हैं।

(ख) यदि उन्हें अच्छी सन्तान पैदा करना इष्ट है, तो इसी की प्रबल-कामना, उनके हृदयों में होनी चाहिए।

(ग) यदि उन्हें पुत्र पैदा करना इष्ट हो वा कन्या, तो उन्हें ऋतु-काल की मर्यादा का ध्यान रखना चाहिये, जिसका विवरण इस प्रकार है:—

ऋतु-काल की मर्यादा

१६ दिन ऋतु-दान के समझे जाते हैं। इन का प्रारम्भ रजोदर्शन से हुआ करता है। इन १६ दिनों में जो अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या या पौर्ण-मासी आवें, उन्हें छोड़ देना चाहिए, शेष में से प्रथम की चार रात्रि भी छोड़ देनी चाहिए— इन्हीं दिनों में स्त्री रजस्वला हुआ करती है। इनके सिवा ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियां भी निन्दित हैं। पुत्र के इच्छुकों को छठी आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलवीं रात्रियों में ऋतु-दान उत्तम जानना चाहिए, और जिन्हें कन्या की इच्छा हो, उन्हें पाँचवीं, सातवीं, नवमी और पन्द्रहवीं रात्रियों में ऋतु-दान करना चाहिए—साधारणतया पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्त्तव के अधिक होने से कन्या उत्पन्न हुआ करती है। यह याद रखना चाहिए कि दिन में ऋतु-दान सर्वथा वर्जित है। यहां पर एक परीक्षण का ज़िक्र कर देना कदाचित् अप्रासंगिक न होगा, जो डाक्टर होफ़ोकर (Dr. Hofocker) एक जर्मन विद्वान् ने पुत्र और पुत्रियों के सम्बन्ध में किया है: —

एक जर्मन-विद्वान् का प्रयत्न

होफ़ोकर ने, अनेक स्थानों से अङ्क एकत्र करके प्रगट किया है कि सौ

लड़कियों की अपेक्षा, निम्न सूरतों में, लड़कों के जन्म का औसत क्या है * :—

१. यदि पिता माता से छोटा हो तो ९०'६
२. यदि माता-पिता समवयस्क हों तो ९०'०
३. यदि पिता माता से १ से ६ वर्ष तक बड़ा हो, तो १०३'४
४. " " ६ से ९ " १२४.७
५. " " ९ से १८ " १४३'७
६. " " १८ या अधिक बड़ा हो, तो २००'०

यह अङ्क उस वैदिक-मर्यादा का समर्थन करते हैं कि वधू से वर की आयु किसी अवस्था में भी ड्योढ़ी से कम नहीं होनी चाहिए।

चौथा सर्ग

कुछेककुप्रथायें जो वर्तमान गृहस्थाश्रम में आगई हैं

वर्त्तमान गृहस्थाश्रम वैदिक मर्यादाओं के उल्लंघन से दूषित हो रहा है—उनमें से कुछेक बातों का यहाँ उल्लेख किया जाता है:—

(१) सबसे अधिक खराबी विवाह-आयु की मर्यादा भंग होने से हुई, और हो रही है जैसा ऊपर कहा

*Man fhe moster piece by D.r Kallog P.66

जा चुका है कि कन्या का विवाह किसी अवस्था में भी १६वें वर्ष से पहले नहीं होना चाहिये, इस मर्यादा के तोड़ने का कुफल, निम्नांकों से जो १९११ ई० की मनुष्य गणना से कन्या के सम्बन्ध में लिये गये हैं, प्रकट होता है:—

आयु	विवाहिताओं की संख्या	विधवा हिन्दु	मुसलमान	विधवाओं का योग अन्यों सहित
०—१	१३२१२	८६६	१०९	१०१४
१—२	१७७५३	७१५	६९	८५६
२—३	४९७८१	१५६४	१६६	१८०७
३—४	१३५१०५	३९८७	५८०९	९३७३
४—५	३०२४२५	७६०३	१२८१	१७७०३
५-१०	२२१९७७८	७७५८५	१४२७६	९४२४०
१०-१५	१००८७०२४	१८१५०७	३६३६४	२२३०३२
योग	१,२८,२४,०८४	२,७३,८६७	५७,९६९	३,४७,९२५

स्पष्ट है कि आयु-सम्बन्धी वैदिक-मर्यादा यदि मानी जाती तो सम्भव नहीं था कि १५ वर्ष तक की दुधमुही कन्यायें, साढ़े तीन लाख के लगभग, विधवा कही जातीं। इन दुर्भाग्यवाली विधवाओं पर जो अत्याचार होते हैं और इनकी जो दुर्दशा होती है उसकी कहानी सुनाकर हम पाठकों का हृदय व्यथित नहीं

करना चाहिये। इन कन्याओं के विधवा होने का उत्तर-दायित्व न केवल बाल-विवाह पर है किन्तु वृद्ध-विवाह भी कन्याओं के अल्पायु ही में विधवा बनाने का अच्छा खास कारण है। जहां यह बाल और वृद्ध-विवाह शीघ्र बन्द होने चाहियें वहाँ इन वर्त्तमान वैधव्य को प्राप्त कन्याओं का, उन्हें अविवाहित ही समझते हुये, विवाह भी कर देना चाहिये, बाल-विधवाओं के विवाह में आपत्ति उठानेवालों के लिये पद्म-पुराण से एक घटना यहाँ उल्लिखित की जाती है। इस पुराण के भूमि-खण्ड अध्याय ८५ में लिखा है कि प्रत्तद्वीप के राजा दिवोदास ने अपनी कन्या दिव्या देवी का विवाह रूप-देश के राजा चतुर्सेन से किया था, पति मर गया। उस समय के विद्वान् पण्डितों ने राजा को सलाह दी कि पुनर्विवाह कर देना चाहिये (देखो श्लोक ५६, ६०, ६१) "विवाह तु विधानेन पिता कुर्यान्न संशयः।" राजा ने विवाह कर दिया परन्तु फिर पति मरगया—इस प्रकार २१ बार विवाह किया:—

"एक-विंशति भर्तारः काले काले मृतास्तदा।"

(२) दूसरी कुप्रथा कन्या और वर-विक्रय से सम्बंधित है। कहीं माता पिता वर-पक्ष से रुपया ले कर कन्या

का विवाह किया करते हैं, कहीं वर-पक्ष वाले "दहेज़" के नाम से, कन्या पक्ष-वालों से रुपया लेकर तब कन्या का विवाह होने देते हैं—ये दोनों प्रथायें अवैदिक और अत्यन्त हानि-कारक हैं। इस अन्तिम कुप्रथा ने, अभी कुछेक वर्षों ही के भीतर, "स्नेहलता" आदि, एक दरजन से अधिक सुशिक्षिता कन्याओं के, प्राण ले डाले हैं, जैसा कि कहा जा चुका है। यह कुप्रथा भी शीघ्र से शीघ्र दूर होनी चाहिये।

(३) तीसरी कुप्रथा, विवाह के सम्बंध में, अंधा-धुंध व्यय करना है। इसके लिये चाहे ऋणी बनना पड़े, चाहे घर-बार बेचना पड़े, परन्तु विवाह में यदि "शानो शौक़त" का इज़हार न हुआ तो मानो सब कुछ मिट्टी में मिल गया - यह मनोवृत्ति, जो हिन्दुओं की बर्बादी के अनेक कारणों में से, एक मुख्य कारण है। वर और वधू दोनों पक्षों की प्रायः एक जैसी ही मनोवृत्ति बनी हुई है। अधिक व्यय करने के लिये वधू-पक्ष को तो प्रायः मजबूर-सा भी किया जाता है, और इस मजबूरी के रूप, 'फ़ल-दान', 'लग्न', मिलनी, बारात का अनुचित आतिथ्य-सत्कार आदि हैं। ये सारी बातें निर्दयता से नष्ट कर देने योग्य हैं—विवाह की एक ही रस्म रह जानी

चाहिये और वह विवाह-संस्कार है, जिस में भाग लेने वाले १०-१२ पुरुष-स्त्रियों से अधिक नहीं होने चाहिये। कोई कारण नहीं है कि क्यों कन्या पक्ष वालों को मजबूर किया जावे कि वे तीन २ चार चार दिन तक बारात का आतिथ्य करें—आज तीसरे पहर वर-पक्ष के कुछ स्त्री पुरुष, कन्या के घर पहुँचने चाहियें, ५ से ६ बजे तक विवाह करके उन्हें, रात्रि में कन्या पक्ष का आतिथ्य ग्रहण करना चाहिये, और प्रातःकाल उठकर अपने घर चले आना चाहिये—सब से अच्छा और आदर्श वैदिक विवाह यह कहा जा सकता है कि वर और वधू दोनों पक्ष की स्त्री पुरुष, आर्य्य मन्दिर में चले जावें और वहां विवाह संस्कार होकर दोनों फ़रीक अपने अपने घर वापिस चले जावें। प्रत्येक दशा में विवाह संस्कार अत्यंत सादगी के साथ होना चाहिए, और किसी हालत में भी उस में (५० ६०) से अधिक व्यय नहीं होना चाहिये।

(४) चौथी क़ुप्रथा यह है कि वर और वधू के निर्वाचन में माता-पिता अपनी पसंद मुख्य रखना चाहते हैं, यह मनोवृत्ति बाल-विवाह से कदाचित् बनी है, परन्तु जहां अब युवा-विवाह होने लगे हैं, वहां भी माता

पिता इस मनोवृत्ति को नहीं बदलते—यह अनुचित है। जहाँ वर और कन्या युवा और युवती हैं वहाँ माता-पिता का काम केवल सलाह देना है, वधू और वर की अन्तिम पसन्द हो, अलीगढ़ के एक युवक विद्यार्थी ने रेल के सामने पड़कर अपने प्राण केवल इसी लिए दे दिए कि माता-पिता ने, उसकी इच्छा के विरुद्ध, उसका विवाह एक मूर्खा कन्या के साथ कर दिया था—इसलिए माता-पिता को इस सम्बन्ध में शीघ्र से शीघ्र अपनी भूल दूर करनी चाहिए।

पाँचवाँ सर्ग

कुछेक फुटकर बातें

अब कुछेक ऐसी बातें लिखी जाती हैं, जिनका जानना गृहस्थ पुरुष-स्त्री के लिए अच्छा है :—

१—स्त्रियाँ अधिक बातें क्यों करती हैं ?

मालूम होता है कि स्त्रियों के अधिक बातें करने की शिकायत सभी जगह है —जर्मन के दो डाक्टरों ने अनेक स्त्री-पुरुषों का परीक्षण करते हुए इस बात का पता लगाया

है कि स्त्रियों के गले के अन्दर जो 'वुकल कार्डस्' (Vocal cards) होते हैं, और जिनके हिलने से ही मनुष्य बात-चीत किया करता है, वे पुरुषों की अपेक्षा हल्के होते हैं, और इस लिए वे सुगमता से हिल-जुल सकते हैं और इसी के द्वारा स्त्रियों को बात करने में प्रकृति ने अधिक सुगमता दे रक्खी है।

२—स्त्रियों में अन्ध-विश्वास संसार के प्रायः सभी भागों में स्त्रियों के भीतर अन्ध विश्वास की मात्रा अधिक पाई जाती है। उदाहरण के लिए कुछेक स्थानों में प्रचलित अन्ध-विश्वासों का यहाँ उल्लेख किया जाता है:—

१. आयर्लैंड—बच्चों की रक्षार्थ, यहाँ की माताएँ स्त्रियों की बालों की पेटी (Belt) बनाकर बच्चे के चारों ओर बांध देती हैं।

२. वेल्स—यहां की स्त्रियां, बच्चों की रक्षार्थ, हिडोलों में चिमटा रख दिया करती हैं।

३. रोमानिया—यहाँ की माताएँ, बच्चों की रक्षा के लिए उनकी कलाई पर लाल फीता बाँध दिया करती हैं।

४. स्वीडन—माताएँ, बच्चों के सिरहाने, विद्वान्

बनने की कामना से पुस्तक रख दिया करती हैं और बालक को प्रथम बार स्नान कराते समय, उनके धनवान् बनने की कामना से, जलमें रुपया डाल दिया करती हैं।

५. स्पेन—बच्चों को स्वस्थ रहने की आशा से, यहां की माताएँ, शनिवार के दिन, उनके मुँहों को, कातिश्म-वृक्षों की टहनियों से रगड़ा करती हैं।

६. भारतवर्ष में भी, इसी प्रकार के अनेक कार्य माताएँ अपनी सन्तान की रक्षार्थ किया करती हैं। स्त्रियों का यह अन्ध विश्वास, केवल सन्तान की ममता और रक्षा के लिए, उनमें उत्पन्न हुआ करता है, परन्तु जो माताएँ सुशिक्षिताएँ हैं, और बुद्धि से काम लेना बुरा नहीं समझतीं, उनमें इस प्रकार का बुद्धि-शून्यता पूर्ण अन्ध-विश्वास नहीं पाया जाता।

२—स्टाकम राज्य

रूस के साईबेरिया-प्रान्त में एक छोटी सी रियासत है, जिसमें पुरुष थोड़े और स्त्रियाँ बहुत हैं—राज्य स्त्रियाँ करती हैं पुरुष घरों में रहकर घरका काम करते हैं। बच्चों का पालना, खाना बनाना, कपड़े धोना, बरतन साफ करना आदि सभी कार्य करने पड़ते हैं। मर्दों को घर के भीतर

परदे में रहने के लिए वहाँ क़ानून बना हुआ है। लड़के भी परदे में ही रक्खे जाते हैं। विवाह के अवसर पर मर्दों ही का बहुत शृंगार किया जाता है, और उन्हें प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि "मैं अपनी पत्नी का आज्ञानुवर्ती रहूँगा।" वे क़ानूनन दाढ़ी-मूछ नहीं रख सकते।*

४—तरावलस-राज्य अफ्रीका में तरावलस के जंगलों में एक छोटी-सी मुसलमानी रियासत है, जिसमें स्त्रियां तो परदे से बाहर रहती हैं, परन्तु पुरुषों को परदे में रहना पड़ता है—शरीफ़ मर्द वह समझा जाता है, जिसकी शक्ल उसकी स्त्री ने भी न देखी हो। वहाँ स्त्रियां मोटे-झोटे कपड़े पहनती हैं, परन्तु मर्द बड़े बनाव और शृंगार के साथ रहते हैं।[१]

५—मलाया-द्वीप इस द्वीप समूह में विवाह बाद वर वधू के घर आकर रहा करता है—बारात कन्याओं की वर के यहाँ जाया करती है।

इत्योऽम्

---

* देखो 'भारत' १६ अप्रैल १६३० ईसवी।

१ देखो 'प्रकाश' २५ जनवरी १६३२ ,,

सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम का रोमांचकारी वर्णन

❀ महारानी झांसी ❀

[ऐतिहासिक उपन्यास]

लेखक—श्री शान्तिनारायण जी

'महारानी झाँसी' ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के प्रथम प्रयास का वर्णन है। इसे पढ़ कर १८५७ के विप्लव का रोमांचकारी दृश्य आंखों के सामने आ जाता है। उस समय भारत के सब स्वाधीन राज्यों ने मिलकर गुलामी की जंजीरों को काटने की प्राणपन से चेष्टा की थी। तात्याटोपी ने जिस वीरता से और महारानी झांसी ने जिस निडरता से, हथियारों से सुसज्जित होकर विदेशियों का मुकाबला किया, उसे पढ़कर आज भी कोई भारतीय रोमांचित हुए बिना न रह सकेगा। घटनाओं का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है। विशेषकर महाराणी की मृत्यु का वर्णन पढ़ कर हर किसी की आंखों में आंसू आ जाएंगे।

यह पुस्तक देवियों को अवश्य पढ़नी चाहिए क्योंकि इसमें भारतीय नारीत्व की वीरता का दृश्य खींचा गया है।

इस पुस्तक की विशेषता यह है कि जहां आज तक १८५७ के बारे में सब पुस्तकें अंग्रेजी दृष्टिकोण से लिखी गई हैं, वहां यह पुस्तक पूर्णतया भारतीय गौरव के गान के हित लिखी गई है। उपन्यास होते हुए भी इसमें स्थान-स्थान पर लिखित बातों की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक प्रमाण दिए गए हैं। वास्तव में यह बड़े अन्वेषण के बाद लिखी गई है। मूल्य चार रुपया।

वैदिक सिद्धान्तों पर "बहिनों की बातें"

संशोधित व परिवर्द्धित चतुर्थ संस्करण मूल्य १=)

लेखक, स्व० कविवर सिद्धगोपाल साहित्य वाचस्पति

यह पुस्तक न केवल कन्याओं के लिये, प्रत्युत प्रत्येक मनुष्य के लिये उपयोगी है। वैदिक सिद्धान्तों का अत्यन्त सरल शब्दों में तर्कपूर्ण विवेचन किया गया है। पुस्तक सामाजिक पाठशालाओं में बालक-बालिकाओं के पढ़ने तथा उपहार के लिये रक्खी जायें तो अत्यन्त लाभप्रद होगी ऐसा विद्वानों का मत है

माता का सन्देश

लेखक—श्री पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार,

"छः सात वर्ष तक बालक प्रायः माता के सम्पर्क में रहता है। अतएव उसकी जिज्ञासुओं का केन्द्र उसकी माता ही रहती है। "माता का सन्देश" माता और पुत्र के वार्तालाप की शैली पर कर्त्तव्य-परायण मां-बाप पथ-प्रदर्शक रहेगा। बच्चे की परिस्थिति आयु और विचार शक्तियों के अनुसार मां-बाप ऐसे वार्तालाप के लिये अपने बालकों को प्रोत्साहन कर उनको यह उपयोगी शिक्षा दे सकते हैं। अत: प्रत्येक माता के हाथ में यह उपयोगी पुस्तक पढ़ने को देनी चाहिये। मूल्य १॥)

बहिन के पत्र

लेखक—श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार।
सम्पादक साप्ताहिक "वीरअर्जुन"

विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में सरल पत्र व्यवहार की शैली में पारिवारिक समस्याओं का अच्छा दिग्दर्शन कराया है जो कि प्रत्येक नवयुवती के लिये शिक्षाप्रद है। अतः प्रत्येक नववधु एवं पुत्री को उपहार में भेंट देने योग्य है। मू० ३)

पुत्री शिक्षक

(लेखक—श्री स्वामी सदानन्द जी।)

माता द्वारा पुत्री को गृहस्थ सम्बंधी उपदेश मूल्य केवल ।।)

पारिवारिक दृश्य

(लेखक—स्व० पं० केशवदेव शास्त्री भिषगाचार्य-प्रधान-मंत्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली)

सामाजिक रीतियों पर सुधार सम्बंधी अनेक पढ़ने योग्य दृश्य सरल भाषा में अंकित किये हैं जो कि शिक्षाप्रद हैं मूल्य १) मात्र।

वीर बच्चों की कहानियां

लेखक—श्री स्व० पं० नन्दकुमारदेव शर्मा

इस पुस्तक में ज्ञानवीर, सत्यवीर और बलवीर आदर्श वीरों की कहानियां सुन्दर, सरल और सरस भाषा में लिखी गई हैं। पुस्तक का यह चौथा संस्करण है बच्चों को उपहार देने योग्य पुस्तक है मू० ।।।)

❀ आदर्श पत्नी ❀

लेखक—सन्तराम बी० ए०

यह वह पुस्तक है जो कि लगभग पांच वर्ष से समाप्त थी। पुस्तक की अधिक मांग और उपयोगिता के दृष्टिकोण से पुस्तक का नया संस्करण प्रकाशित करके नये रूप में अपने ग्राहक-बन्धुओं की भेंट कर रहे हैं। पुस्तक में निम्न विषय हैं:—

१. व्यक्तित्व २. खटपट से बचने के उपाय ३. स्वभाव ४. अर्थ सम्बन्धी बातें ५. भार्या के कर्तव्य ६. पतिव्रत धर्म ७. सास, जेठानी, देवरानी और ननद के साथ बर्ताव ८. घर में स्वर्ग ६. विनोद १०. भोजन ११.वेश १२. प्रीति-भोजन और मेल-मिलाप १३. गृह-प्रबन्ध १४. सन्तान १५. साधारण स्वभाव १६. व्यक्तिगत सम्बन्ध १७. डाह १८. आमदनी १६. गृहस्थ की बातें २०. मनोरंजन २१. स्वास्थ्य २२. गार्हस्थसूत्र, इत्यादि।

यह पुस्तक प्रत्येक घर में रहनी चाहिए। कागज बढ़िया, अक्षर बहुत मोटे, सुन्दर जिल्द, विवाह में देने योग्य है। "आदर्शपति' नामक पुस्तक का भी इसी में समावेश कर दिया है। मूल्य २॥)